सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में भारतीय जीव

(महामना मालवीय स्मारक व्याख्यानमाला ग्रंथ)

सम्पादक मण्डल

आचार्य श्री सीताराम चतुर्वेदी
आचार्य श्री केशवचन्द्र मिश्र
श्री रामायण उपाध्याय
श्री रामनक्षत्र त्रिपाठी



मुख्य वितरक -

भारतीय प्रकाशन मन्दिर
काशी सदन, पान दरीबा
लखनऊ

अखिल भारतीय महामना मालवीय स्मारक-समिति
भाटपाररानी, देवरिया (उ० प्र०)

चतुर्थ पुष्प

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथम संस्करण १०००
मूल्य १० रुपया

– प्रकाशक –
मदनमोहन मालवीय शिक्षा संस्थान,
भाटपाररानी, देवरिया (उ० प्र०)

– मुद्रक –
नया संसार प्रेस,
भदैनी, वाराणसी – १

आशीर्वचन

महामना मदनमोहन मालवीय जी भारत के ही नही विश्व के महापुरुषो मे अपना सर्वोच्च महत्व रखते हैं। उनका व्यक्तित्व वैविध्यो से भरा था, किन्तु वहा विरोध की छाया भी नही थी। वे सबके थे और सब उनके थे। इसीलिये सवत्र उनका समादर है और वे सर्वमान्य हैं।

ऐसे महामना की १००वी जयन्ती मनाने का गुरुतर भार उन्ही की कृपा से सँभला है और इस जयन्ती से यदि कुछ भी लोकोपकार सभव हुआ है, तो हम लोगो की बडी भारी सफलता है।

महामना की इसी शती जयन्ती के अन्तर्गत चलने वाली व्याख्यानमाला का ग्रन्थ रूप मे प्रकाशन हमारे लिये बडी प्रसन्नता की बात है। इससे भारतीय चेतना तो उद्‌बुद्ध होगी ही, भारतीय जीवन के विविध अगो पर भारतीय मर्मज्ञ विद्वानो द्वारा प्रकटीकृत विचारो से विश्व की जनता भी यहाँ के जीवन-स्वरूप से अवगत होगी। यह एक महान् काय सम्पादित हो रहा है। परमेश्वर सफलता प्रदान करे।

सुरतिनारायणमणि त्रिपाठी
आइ० ए० एस०
उपकुलपति
वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
अध्यक्ष
अखिल भारतीय महामना मालवीय
स्मारक-समिति

काशी,
२० जनवरी १९६५ ई०

दो शब्द

अखिल भारतीय महामना मालवीय स्मारक-समिति की ओर से मदनमोहन मालवीय महाविद्यालय के तत्त्वावधान में सम्पन्न होनेवाली शती जयन्ती और उसके अनेक महिमामण्डित त्रैवार्षिक कार्यक्रम, ज्ञानयज्ञात्मक पुनीत 'मालवीय व्याख्यान माला' का आयोजन और क्रमशः ग्रंथ रूप में प्रकाशन, यह सब परमेश्वर की असीम अनुकम्पा के सुफल तो हैं ही, वरेण्य विद्वानों की सहज कृपा के भी सुपरिणाम हैं।

देश के समादरणीय विचारकों, सुधीजनों एवं मनीषियों की कृपा न होती तो कुछ भी होना सम्भव नहीं था और न यह व्याख्यान माला ही गौरवपूर्ण रूप में सञ्चालित हो पाती।

यदि यह प्रयत्न, महामना के गौरव और उनके युगप्रेरक लक्ष्य-पूर्ति को सम्पादित करने में लोकमंगल और लोक निर्माण के लिये प्रदर्शित मार्ग को लोकप्रिय बनाने में, सहायक बनेगा तो समिति की ओर से महामना की यही सच्ची अर्चना और श्रद्धाञ्जलि होगी।

मैं महामना के प्रेमियों और विद्वानों के समक्ष इस कार्य की पूर्ति पर आनत शिर पुनः पुनः सविनय श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए अपूर्व आह्लाद का अनुभव कर रहा हूँ। साथ ही जयन्ती यज्ञ में एक तुच्छ परिचारक होने के नाते मैं अपनी त्रुटियों के लिये क्षमा चाहता हूँ।

मदनमोहन मालवीय डिग्री कॉलेज
भाटपाररानी (देवरिया)
२१ जनवरी १९६२ ई०

केशवचन्द्र मिश्र
मंत्री
अखिल भारतीय महामना मालवीय
स्मारक-समिति

पीठिका

अखिल भारतीय महामना मालवीय शती जयन्ती और व्याख्यान-माला ग्रंथ

यह भारतवर्ष, अपनी जिन अनेक महिमामयी विशेषताओं से भूमण्डल का वन्द्य और शृंगार है, उनमें यहाँ सबसे अधिक ज्योतिर्भास्वर महापुरुषों के आविर्भाव और उनके समादर एवं समभ्यर्चन की सुष्ठु परम्परा है। इन्द्र, विष्णु, महेश, राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर आदि की परम्परा और उनके समभ्यर्चन की धारा सर्वविदित है। इधर रामकृष्ण, विवेकानन्द, गान्धी, महामना मालवीय जी और जवाहरलाल नेहरू जैसी विभूतियों ने पूर्वागत परम्परा की अजस्रता को अक्षुण्ण रखा। इनमें भी महामना मालवीय जी का स्थान कारक पुरुष के रूप में अन्यतम कहा जायगा।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥

मुझे तो उपर्युक्त श्लोक के स्मरण पर महामना की स्मृति और महामना की स्मृति आने पर उपर्युक्त श्लोक का स्मरण हो आता है। महामना को प्राणि मात्र से किंचिदपि द्वेष नहीं था, वे सबके निःस्वार्थ, हेतुशून्य मित्र थे। वे करुणा के अवतार थे। उनमें आसक्ति और अहंकार का लेश मात्र नहीं था। वे अपराधी को भी अभय बनाने वाले अद्भुत क्षमाशील और दुःख-सुख के द्वन्द्वों से ऊपर उठे महापुरुष थे। वे नत शिर, किम्बहुना, सत्त्वमय हृदय ही हृदय थे। महामना के लिए 'हृदयम्' शब्द का उच्चारण करके मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है। विद्वानों की व्याख्या के अनुसार 'हृदयम्' शब्द भारतीय संस्कृति का मूलाधार प्रतीत होता है और सचमुच, महामना के रूप में भारतीय संस्कृति ही मूर्तिमान् हुई थी। जैसे आकर्षक 'प्रोटन' और विकर्षक 'इलेक्ट्रन' से सम्पन्न परमाणु भौतिक जगत् का मूलाधार है, वैसे ही भारतीय संस्कृति का आधार भी 'हृदयम्' है। 'हृ' का अर्थ होता है आदान, 'द' का अर्थ होता है विसर्ग या प्रदान, और 'यम्' का अर्थ है, आदान प्रदान का नियमन अथवा सन्तुलन। संग्रह और त्याग का उचित विवेक और दोनों का उचित उपयोग ही नियमन है। महामना 'यम' या नियमन की यह पावन विवेक भूमि थे, जहाँ भूत, वर्तमान, भविष्य, संग्रह और त्याग, सञ्चरण और प्रसरण, प्राणन और अपानन, अगति और गति का अपूर्व सन्तुलन एवं संगमन होता था, जहाँ प्राच्य और प्रतीच्य तथा प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों को विश्राम प्राप्त होता था। महामना वह 'व्यान' तत्त्व थे जहाँ 'प्राण' और अपान का संगम होता है। भारतीय राष्ट्र को और उसके माध्यम से अखिल विश्व को भी इस अमितप्रभ व्यक्तित्व और कृतित्व से युक्त महामानव ने बाह्याभ्यन्तर उद्बुद्ध किया नव जीवन दिया और दिया नव चेतना सम्वलित ज्योतिर्मय लक्ष्य भी। महामना में विश्व के सभी आदर्श व्यवहार रूप में प्रत्यन्तर्भूत हो रहे थे।

शती जयन्ती

हमारी परम्परा है कि हम अपने सत्रमद् विभूतियों से सम्पन्न महापुरुषों की अर्चना अनेक विधियों एवं स्मृतियों से सम्पन्न करते हैं, किन्तु इसमें 'वीर पूजा' की अन्ध भावना की सम्भावना का सर्वथा निरास ही मानना चाहिए। अर्चना के माध्यम से स्वस्थ भारतीय हृदय महद् गुणों के प्रति स्वस्थ समादर की ही अभिव्यञ्जना करता है। अर्चना की विधियों में जयन्ती पद्धति से भी सामूहिक अभिनन्दन अभ्यर्चन करने की पारम्परिक प्रथा है।

महामना की शताब्दी आते ही देश के चिन्तनशील विद्वानों का ध्यान इधर आकृष्ट हुआ। विद्वानों ने विचार किया कि महामना की जयन्ती भी उनके अनुरूप ही चरितार्थ होनी चाहिए। जिस प्रकार सम्पूर्ण मानव जाति को महामना ने आलोकरंजित एवं उद्बुद्ध किया है, वैसे ही उनकी जयन्ती भी उनको आलोकरंजित और प्रोद्बुद्ध करे। इस तरह के विचारकों में सुप्रसिद्ध विद्वान् और विचारक आचार्य रामचन्द्र मिश्र, प्रधानाचार्य मदनमोहन मालवीय डिग्री कालेज, भाटपाररानी (देवरिया) को विशेषकर सर्वाधिक श्रेय दिया जायगा। आप महामना-मालवीय विश्वविद्यालय के स्नातक हैं जिनके व्यक्तित्व पर महामना के व्यक्तित्व की भावात्मक और क्रियात्मक—अमिट छाप पड़ी है। महामना स्नातकों से बराबर कहते थे कि आप विश्राम मत करें, गाँव-गाँव में जाकर देश की जनता जनार्दन की अर्चना कीजिये। उनका सर्वांगीण निर्माण कीजिए। इस बात को भुलाया नहीं जा सकता कि अनेक विश्वविद्यालयों द्वारा प्रदत्त प्राध्यापक पद के निमन्त्रणों को अस्वीकार करके बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी की स्नातकोत्तर परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद, आज से १८ १६ वर्ष पूर्व निपट देहाती क्षेत्र में, महामना की स्मृति में, दर्शन जी की बलिष्ठ प्रेरणा से भारतवर्ष भर में एकमात्र और सर्वप्रथम संस्था महामना मदनमोहन मालवीय महाविद्यालय की स्थापना इस संस्थान के वरेण्य प्रबन्धक मण्डल के सहयोग से आपने की। आपके आदर्श व्यक्तित्व और गुरुतम तपस्या के बलपर, अनेकमुखी विघ्नों और कठिनाइयों के बाद भी, निरन्तर उत्कर्षोन्मुख और नानागुणशालिनी प्रतिभाओं के उत्पादक, पोषक एवं संवर्द्धक रूप में महाविद्यालय ज्योतिर्विग्रह के रूप में अविरल जगमगा रहा है। फिर आपने और आपके अग्रज प्रसिद्ध देशभक्त श्री बद्रीनारायण मिश्र ने श्री सुरति नारायण मणि त्रिपाठी, वर्तमान उपकुलपति, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, श्री हनुमान प्रसाद जी पोद्दार, सम्पादक 'कल्याण' श्री देवनन्दन शुक्ल (देवरिया), श्री प० वासुदेव द्विवेदी, साहित्याचार्य, संचालक सार्वभौम संस्कृत प्रचार कार्यालय, वाराणसी प्रभृति विद्वानों, विचारकों और देशभक्तों से सम्पर्क स्थापित करके और उनके उदार तथा सक्रिय सहयोग से 'अखिल भारतीय महामना मालवीय स्मारक-समिति' का गठन किया। जिसका संरक्षकत्व भगवद्भक्त महर्षि ध्यानाचार्य योगिराज सच्चिदानन्द महाराज (देवरहवा बाबा) ने और अध्यक्षता माननीय श्री प० सुरति नारायण मणि त्रिपाठी ने स्वीकार की।

समिति ने जयन्ती को वैज्ञानिक रूप में मनाने का निश्चय किया। महामना की शताब्दी जयन्ती मनाने के लिए यदि मैं भूल नहीं करता हूँ, तो इस तरह की समिति प्रथम-प्रथम बनी। समिति ने अपने कार्यक्रमों में अखिल भारतीय सांस्कृतिक सम्मेलनों, यज्ञों, ज्ञानयज्ञों, प्रवचन रचना के पुनः प्रकाशन करने वाले ग्रन्थों, तथा महामना की पुण्यस्मृति को स्थायित्व प्रदान

करने के लिए महामना की प्रतिमा का संस्थापन, डिग्री कॉलेजों का संचालन, वैदिक शोधसंस्थान का उद्घाटन, प्राच्य व्यायामशाला, खेल-कूद तथा प्राचीन रंगशाला आदि की स्थापना प्रभृति महत्कार्यों के सम्पादन को लक्ष्य बनाया। इन सभी कार्यक्रमों के सम्पादन एवं संचालन का केन्द्र मदनमोहन मालवीय महाविद्यालय ही स्वीकार किया गया।

समिति ने महामना शती जयन्ती के प्रथम अखिल भारतीय शुभारम्भ समारोह को *सांस्कृतिक पर्व के रूप में चरितार्थ करने का निश्चय किया।* इसमें संस्कृत-संस्कृति सम्मेलन, वेद के मर्मज्ञ विद्वान् श्री दामोदर सातवलेकर जी को 'ब्रह्मर्षि' की उपाधि से विभूषित कर विद्वत्सम्मान, विशाल वैदिक वाङ्मय की विराट प्रदर्शनी, महाविष्णु यज्ञ और शास्त्रीय संगीत आदि के कार्यक्रमों की चरितार्थता स्वीकृत हुई। फिर २३ २४ अक्टूबर को लाखों के जनसम्मर्द और देश विदेश के मूर्धन्य चिन्तकों, विद्वानों, आचार्यों, सन्तों, लोकनायकों के समागम में पीयूष वाहिनी सरयू के पावन तट पर, योगिराज श्री देवरहवा बाबा के पवित्र आश्रम के आसन्नवर्ती महर्षि वेदव्यास नगर में प्रथम समारोह का ऐतिहासिक कार्यक्रम सम्पादित हुआ।

२२-२३ अप्रैल १९६२ ई० को मदनमोहन मालवीय महाविद्यालय, भाटपाररानी के विशाल मैदान में निर्मित विशाल पण्डाल में अखिल भारतीय शती जयन्ती का द्वितीय अखिल भारतीय समारोह सम्पन्न हुआ। इसमें साहित्य, शिक्षा, धर्म, दर्शन-संस्कृति, गोरक्षा आदि नामों से अनेक परिषदें गठित हुई थीं, जिनमें देश विदेश के अनेक गण्यमान्य विद्वानों एवं लोकनायकों की गोष्ठियाँ हुई थीं। इस अवसर पर कालेज के रम्य पार्क में, महामना की विशाल और भव्य मानवाकार संगमर्मरीय प्रतिमा का अनावरण, तत्कालीन उत्तर प्रदेशीय मुख्यमन्त्री माननीय श्री चन्द्रभानु जी गुप्त के कर कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ। श्री हनुमान प्रसाद जी पोद्दार सम्पादक 'कल्याण' ने समारोह की अध्यक्षता की तथा मदनमोहन मालवीय शिक्षण संस्थान के अंगीभूत, महामना संस्कृत महाविद्यालय का शिलान्यास किया।

स्मारक समिति के तत्त्वावधान में ही गत वर्ष यहाँ स्नातक स्तरीय अध्ययन अध्यापन के लिए गोरखपुर विश्वविद्यालय से सम्बद्ध कला एवं विज्ञान संनिकाय में डिग्री कालेज का समारम्भ एवं संचालन आरम्भ हुआ।

३० जनवरी १९६५ ई० को शती जयन्ती के त्रैवार्षिक कार्यक्रमों का समापन समारोह सम्पन्न होगा। इस अखिल भारतीय समारोह में भी देश के मूर्धन्य विद्वानों और लोकनायकों का समागम हो रहा है। इस समारोह में उत्तर प्रदेश के राज्यपाल महामहिम श्री विश्वनाथदास जी भी पधार रहे हैं। इस अवसर पर वैदिक शोधशाला का उद्घाटन भी होगा। इस वैदिक शोधशाला का लक्ष्य है कि इसके द्वारा देश विदेश के अन्वेषक एवं गवेषक वैदिक वाङ्मय एवं परम्परा के विशाल साहित्य के अध्ययन अनुशीलन के द्वारा अपनी गवेषणा, और अन्वेषणा से वैदिक मर्मों एवं तत्त्वों का प्रकाशन करके विश्व को लाभान्वित बनायें।

ज्ञान-यज्ञ

इसी महामना मालवीय शती जयन्ती के ऐतिहासिक कार्यक्रमों में व्याख्यान माला रूपी 'ज्ञानयज्ञ' का भी अनुष्ठान किया गया था। यह बड़ा ही आह्लादकारी और गौरवमय अनुष्ठान

शती जयन्ती

हमारी परम्परा है कि हम अपने सत्पुरुषों, विभूतियों व अन्य महापुरुषों की अर्चना अनेक विधियों एवं स्मृतियों से सम्पन्न करते हैं, किन्तु इसमें 'नर पूजा' की अन्ध भावना की सम्भावना को सर्वथा निरस्त ही मानना चाहिए। अर्चना के माध्यम से सरल भारतीय हृदय महद् गुणों के प्रति स्वस्थ समादर की ही अभिव्यंजना करता है। अर्चना की विधियों में जयन्ती पद्धति से भी सामूहिक अभिनन्दन व्यक्त करने की पारम्परिक प्रथा है।

महामना की शताब्दी आते ही देश के चिन्तनशील विद्वानों का ध्यान इधर आकृष्ट हुआ। विद्वानों ने विचार किया कि महामना की जयन्ती भी उनके अनुरूप ही आयोजित होनी चाहिए। जिस प्रकार सम्पूर्ण भारत जीवन को महामना ने अपनी कर्मनिष्ठा से उद्बुद्ध किया है, वैसे ही उनकी जयन्ती भी उनको आलोक-मण्डित और प्रबुद्ध करे। इस तरह के विचारकों में सुप्रसिद्ध विद्वान् और विचारक आचार्य रमाकान्त मिश्र, प्रधानाचार्य मदनमोहन मालवीय डिग्री कालेज, भाटपाररानी (देवरिया) के विचारों को सर्वाधिक श्रेय दिया जायगा। आप महामना-कालिक विश्वविद्यालय के स्नातक हैं जिनके व्यक्तित्व पर महामना के व्यक्तित्व की भावात्मक और क्रियात्मक—अमिट छाप पड़ी है। महामना स्नातकों से बराबर कहते थे कि आप निःस्वार्थ भाव से गाँव-गाँव में जाकर देश की जनता जनार्दन की अर्चना कीजिए। उनका सर्वतोभावेन निर्माण कीजिए। इस बात को भुलाया नहीं जा सकता कि आपने विश्वविद्यालय द्वारा प्रदत्त प्राध्यापक पद के निमन्त्रणों को अस्वीकार करके बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी की स्नातकोत्तर परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद, आज से १८-१६ वर्ष पूर्व निपट देहाती क्षेत्र में, महामना की स्मृति में, राजर्षि टण्डन जी की बलिष्ठ प्रेरणा से भाटपाररानी में एकमात्र और सर्वप्रथम संस्था महामना मदनमोहन मालवीय महाविद्यालय की स्थापना इस संस्था के वरेण्य प्रबन्धक महोदय के सहयोग से आपने की। आपके आदर्श व्यक्तित्व और गुरुतम तपस्या के बलपर, अनेकमुखी विघ्नों और कठिनाइयों के बाद भी, निरन्तर उत्कर्षोन्मुख और नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभाओं के उत्पादक, पोषक एवं प्रवर्द्धक रूप में महाविद्यालय ज्योतिष्पिण्ड के रूप में अविरल जगमगा रहा है। फिर आपने और आपके अग्रज प्रसिद्ध देशभक्त श्री बद्रीनारायण मिश्र ने श्री सुरति नारायणमणि त्रिपाठी, वर्तमान उपकुलपति, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, श्री हनुमान प्रसादजी पोद्दार, सम्पादक 'कल्याण' श्री देवानन्दजी शुक्ल (देवरिया), श्री प० वासुदेवजी द्विवेदी, साहित्याचार्य, संस्थापक सार्वभौम संस्कृत प्रचार कार्यालय, वाराणसी प्रभृति विद्वानों, चिन्तकों और देशभक्तों से सम्पर्क स्थापित करके और उनके उदार तथा सक्रिय सहयोग से 'अखिल भारतीय महामना मालवीय स्मारक-समिति' का संघटन किया। जिसकी प्रधान संरक्षकता माहोविल प्रपन्नाचार्य योगिराज सच्चिदानन्द महाराज (देवरहवा बाबा) ने और अध्यक्षता माननीय श्री प० सुरतिनारायण मणिजी त्रिपाठी ने स्वीकार की।

समिति ने जयन्ती को त्रैवार्षिक रूप में मनाने का निश्चय किया। महामना की शताब्दी जयन्ती मनाने के लिये यदि मैं भूल नहीं करता हूँ, तो इस तरह की समिति प्रथम प्रथम बनी। समिति ने अपने कार्यक्रमों में अखिल भारतीय सांस्कृतिक सम्मेलनों, यज्ञों, शास्त्रार्थों, प्राचीन परम्परा को पुनर्जाग्रत करने वाले पवित्र कृत्यों, तथा महामना की पुण्यस्मृति को स्थायित्व प्रदान

करने के लिए महामना की प्रतिमा का संस्थापन, डिग्री कालेजों का संचालन, वैदिक शोधसंस्थान का उद्घाटन, प्राच्य व्यायामशाला, खेल-कूद तथा प्राचीन रंगशाला आदि की स्थापना प्रभृति महत्कार्यों के सम्पादन को लक्ष्य बनाया। इन सभी कार्यक्रमों के सम्पादन एवं संचालन का केन्द्र मदनमोहन मालवीय महाविद्यालय ही स्वीकार किया गया।

समिति ने महामना शती जयन्ती के प्रथम अखिल भारतीय शुभारम्भ समारोह को सांस्कृतिक पर्व के रूप में चरितार्थ करने का निश्चय किया। इसमें संस्कृत-संस्कृति सम्मेलन, वेद के मर्मज्ञ विद्वान् श्री दामोदर सातवलेकर जी को 'ब्रह्मर्षि' की उपाधि से विभूषित कर विद्वत्सम्मान, विशाल वैदिक वाङ्मय की विराट प्रदर्शनी, महाविष्णु यज्ञ और शास्त्रीय संगीत आदि के कार्यक्रमों की चरितार्थता स्वीकृत हुई। फिर २३ २४ अक्टूबर को लाखों के जनसम्मर्द और देश विदेश के मूर्धन्य चिन्तकों, विद्वानों, आचार्यों, सन्तों, लोकनायकों के समागम में पीयूष वाहिनी सरयू के पावन तट पर, योगिराज श्री देवरहवा बाबा के पवित्र आश्रम के आसन्नवर्ती महर्षि वेदव्यास नगर में प्रथम समारोह का ऐतिहासिक कार्यक्रम सम्पादित हुआ।

२२-२३ अप्रैल १९६२ ई० को मदनमोहन मालवीय महाविद्यालय, भाटपाररानी के विशाल मैदान में निर्मित विशाल पण्डाल में अखिल भारतीय शती जयन्ती का द्वितीय अखिल भारतीय समारोह सम्पन्न हुआ। इसमें साहित्य, शिक्षा, धर्म, दर्शन-संस्कृति, गोरक्षा आदि नामों से अनेक परिषदें गठित हुई थीं, जिनमें देश विदेश के अनेक गण्यमान्य विद्वानों एवं लोकनायकों की गोष्ठियाँ हुई थीं। इस अवसर पर कालेज के रम्य पार्क में, महामना की विशाल और भव्य मानवाकार संगमर्मरीय प्रतिमा का अनावरण, तत्कालीन उत्तर प्रदेशीय मुख्यमन्त्री माननीय श्री चन्द्रभानु जी गुप्त के कर कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ। श्री हनुमान प्रसाद जी पोद्दार सम्पादक 'कल्याण' ने समारोह की अध्यक्षता की तथा मदनमोहन मालवीय शिक्षा-संस्थान के गर्भीभूत, महामना संस्कृत महाविद्यालय का शिलान्यास किया।

स्मारक-समिति के तत्वावधान में ही गत वर्ष यहाँ स्नातक स्तरीय अध्ययन अध्यापन के लिए गोरखपुर विश्वविद्यालय से सम्बद्ध कला एवं विज्ञान सनिकाय में डिग्री कालेज का समारम्भ एवं संचालन आरम्भ हुआ।

३० जनवरी १९६५ ई० को शती जयन्ती के नैवापिक कार्यक्रमों का समापन समारोह सम्पन्न होगा। इस अखिल भारतीय समारोह में भी देश के मूर्धन्य विद्वानों और लोकनायकों का समागम हो रहा है। इस समारोह में उत्तर प्रदेश के राज्यपाल महामहिम श्री विश्वनाथदास जी भी पधार रहे हैं। इस अवसर पर वैदिक शोधशाला का उद्घाटन भी होगा। इस वैदिक शोधशाला का लक्ष्य है कि इसके द्वारा देश विदेश के अन्वेषक एवं गवेषक वैदिक वाङ्मय एवं परम्परा के विशाल साहित्य के अध्ययन अनुशीलन के द्वारा अपनी गवेषणा, और अन्वेषणा से वैदिक मर्मों एवं तत्वों का प्रकाशन करके विश्व को लाभान्वित बनायें।

ज्ञान-यज्ञ

इस महामना मालवीय शती जयन्ती के ऐतिहासिक कार्यक्रमों में व्याख्यान माला रूपी 'ज्ञानयज्ञ' का भी अनुष्ठान किया गया था। यह यहाँ का आह्लादकारी और गौरवमय अनुष्ठान

रहा है। मानव, चेतना विशिष्ट प्राणी है और उसके सभी प्रयत्नों में चेतना की भूमिका प्रमुख रही है। उसके विकास और इतिहास के मूल में 'चेतना' का अनिवार्य उपकार है। इतना ही मानवता है उसकी। मानव की उसी चेतना के परिष्कार-संस्कार, अभिवेरण, उद्बोधन एवं परिजागरण को उद्देश्य में रखकर देश के विद्वानों और विचारकों से इस यज्ञ में योगदान की अभ्यर्थना की गई थी, जिसे उन्होंने सहज ही स्वीकृति देकर हमें कृतार्थ किया। यह व्याख्यान माला जिन विद्वानों के अमूल्य एवं अमलप्रभ व्याख्यान मणियों से समन्वित हुई है, उनमें डॉ० श्री गोविन्द चन्द्र पाण्डेय (तत्कालिक अध्यक्ष, इतिहास और संस्कृति विभाग गोरखपुर विश्वविद्यालय) श्री पण्डितराज राजधर शास्त्री द्रविड़ 'पद्मभूषण', विविध विषयों के आचार्य एवं अध्यात्म तत्ववेत्ता आचार्य श्री रामानन्द जी शास्त्री 'आनन्द', सुप्रसिद्ध विद्वान, लेखक और आचार्य श्री सीताराम जी चतुर्वेदी (प्राचार्य टाउन डिग्री कॉलेज, बलिया), श्री लक्ष्मीशंकर व्यास (सहायक सम्पादक 'आज') वेद विद्या के समस्त प्रकाण्ड श्री दामोदर सातवलेकर, डा० श्री राजबली जी पाण्डेय (अध्यक्ष, इतिहास और संस्कृति विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय), श्री भिक्षु जगदीश काश्यप एम० ए० (बौद्ध दर्शन विभाग, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय), आचार्य केशवचन्द्र जी मिश्र (प्राचार्य मदनमोहन मालवीय डिग्री कॉलेज, भाटपाररानी (देवरिया), सुप्रसिद्ध नाटककार एवं विद्वान् श्री लक्ष्मीनारायण जी मिश्र और आदरणीय डाक्टर वीरमणि जी उपाध्याय (अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, गोरखपुर वि० वि०) प्रभृति विद्वानों के कृपागर्भ सहयोग को हम कभी भूल नहीं सकते। उनके व्याख्यानों के सम्बन्ध में पाठक स्वयं निर्णय करेंगे, मैं इतना ही कह कर सन्तोष कर लेना चाहूँगा कि जिन विषयों पर उपयुक्त महानुभावों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं, उनकी गहराई में डूबने वाला रत्न सम्पन्न होकर भी बाहर नहीं आना चाहता।

यह व्याख्यान माला और इसका पुस्तकाकार संकलन महामना की शती जयन्ती का अत्यन्त लोकोपकारी, सार्थक और महत्वपूर्ण कार्य है—ऐसा हमारा विश्वास है।

इस व्याख्यान माला ग्रंथ की उपादेयता को अत्यधिक समृद्धि प्रदान करने वाले हैं, आदरणीय आचार्य श्री सीताराम जी चतुर्वेदी। आपने अपना व्याख्यान तो प्रदान ही किया है, महामना की जीवनी का विनियोग करके इसे और भी अनमोल बना दिया है। महामना की शती जयन्ती के आरंभ से समापन तक आपके निर्देश, आदेश और सुझाव सदा ही अमूल्य और उत्साह संचारक रहे हैं। किन्तु यह सभी कार्यकलाप तो आप ही के थे और इसमें आपका अनुभूत होने वाला आह्लाद ही हम लोगों के लिए सन्तोषप्रद है।

श्री शिवनारायण जी उपाध्याय, जिन्होंने अपने कठोर श्रम से इस पुस्तक को स्वल्पावधि में मुद्रित करके सुलभ बनाया है, सतत धन्यवाद के पात्र हैं।

जिन मूर्धन्य विद्वानों ने इस महत्कार्य में अपना योगदान दिया है, यह उनकी सहज कृपा की परिणति ही है, उनके प्रति 'आभार' प्रकट करना तो सरासर धृष्टता ही होगी।

इस अखिल भारतीय महामना मालवीय शती जयन्ती और 'व्याख्यानमाला' आदि के बाहर भीतर, आदि और अन्त में, सर्वत्र अनुस्यूत आचार्य केशवचन्द्र जी मिश्र के सम्बन्ध में क्या कहना है इन सारे महदायोजनों की सफलता ही उनका वरण करती है जिसे वे सबमें उदारतापूर्वक वितरित कर रहे हैं।

इस ग्रंथ रत्न का प्रकाशन बड़ी शीघ्रता में हो रहा है। इसकी त्रुटियाँ सज्जन-क्षम्य हैं।

वे सभी धन्यवाद और आदर के पात्र हैं, जिन्होंने इन सभी महत्कार्यों में स्वल्प या अधिक, शारीरिक और मानसिक योग दान दिया है किंतु मैं महाविद्यालय के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री रामनवल त्रिपाठी शास्त्री, एम० ए०, बी० लिब० एस-सी का हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने तन मन से इस ग्रंथ को इतने अल्प समय में, इस भव्य रूप में प्रकाशित करा डालने का गुरुतर भार अपने पुष्ट कंधों पर वहन किया तथा इनके प्रकाशन-कार्य सम्बन्धी विभिन्न अनुभवों से हम लोगों ने भरपूर लाभ उठाया। आप एक मूक कार्यकर्ता के सजीव रूप हैं। आपके कार्यों की जितनी भी संस्तुति की जाय अल्प है। आशा है इसी प्रकार भविष्य में भी आपका उचित सहयोग मुझे यथा समय सुलभ होता रहेगा। डा० दिलीप नारायण मिश्र का भी परिश्रम फलदायक रहा है। अन्ततः हम उस प्रभु की महा कृपा का स्मरण नहीं भूल सकते, ये सारे आयोजन जिसके लेश के फल हैं।

रामायण उपाध्याय एम० ए०
(संयोजक व्याख्यानमाला)
प्राध्यापक
मदनमोहन मालवीय डिग्री कॉलेज
भाटपार रानी (देवरिया)

शुक्रवार, २२ जनवरी १९६५

अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

महामना मालवीयजी

आज से सौ वर्ष पहले सन् १८६१ का प्रयाग। आज के प्रयाग को देखकर किसी को गुमान भी न होगा कि विक्रम की बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में (सन् १८६१ में) यह नगर जंगल के समान था एक बड़ा सा ग्राम मात्र था। तब ये खुली, चौड़ी, चिकनी सड़कें नहीं थीं, ऊँची ऊँची अटारियाँ और बड़ी-बड़ी कोठियाँ नहीं थीं, रङ्गबिरङ्गे फूलों की क्यारियाँ और हरियाले घने पेड़ों की झुरमुट में ऊँचा सिर करके अकड़े खड़े हुए बँगले भी नहीं थे। उस समय न तो आँखों को चुँधियाने वाली बिजली थी न दिल दहलाने वाले पुतलीघर। हां, इस देहात में त्रिवेणी के भक्तों ने पुण्य करके कुछ मन्दिर और धर्मशालाएँ बनवा दी थी जहाँ से साँझ-सवेरे भगवान के भजन, शङ्ख की गूंज और घण्टे घड़ियालों की टनटन् झनझन सबका मन लुभाती थी।

आज जहाँ चौक की घनी बस्ती और बड़ी-बड़ी दुकानों का जमघट दिखाई पड़ रहा है वहाँ उन दिनों खुला जङ्गल था जहाँ साँझ होते ही सियारों की हुआँ हुआँ और कभी कभी जंगल के राजा की दहाड़ भी जी दहला देती थी। जहाँ आजकल सरकारी दफ्तर, वकीलों और नगर के धनीमानियों के रसीले बँगले चमकते हैं वहाँ उन दिनों जङ्गली जानवर पेड़ों की ठण्डी छाँह में या तो लोट लगाते या गहरी माँदों में जाकर बसेरा लेते थे। बस्ती में छोटी छोटी पुरानी चाल की पथरीली सड़कें और सँकरी गलियाँ थीं जो मेला के दिनों में थोड़े से ही यात्री नर-नारियों से ऐसी ठसाठस भर जाती थीं कि कन्धे से कन्धा छिला पड़ता था। उस समय कोई प्रयाग की सैर करने नहीं जाता था। जो जाता था वह अपना सुख साज छोड़कर, झोली में सतुआ बाँधकर, त्रिवेणी में एक डुबकी—बस एक डुबकी—लगाने, और उसका प्रयाग जाना सफल हो जाता था। अब समय बदल गया है। अब लोग आते हैं मुकदमा लड़ने, विश्वविद्यालय या विद्यालयों में पढ़ने, सैर-सपाटा करने, सिनेमा देखने और हाट बाजार करने। अब त्रिवेणी को कौन पूछता है क्योंकि अब प्रयाग में मनलुभाने वाले बहुत से प्रलोभन हो गए हैं।

पर हाँ—एक बात है—गङ्गा और यमुना आज भी उसी प्रकार, उसी वेग से, उसी उमङ्ग से, उसी शान से प्रयाग की गोद में एक दूसरे से मिलने के लिए पगली सी दौड़ी चली आती हैं—पिता हिमालय की गोद छोड़ते ही उनका बिछोह हुआ—फिर यदि वे दोनों यहाँ इतने हुलास से मिलने को दौड़ें और उनके उल्लास-पूर्ण वेग तथा वर्षा में उनके उमड़ते हुए प्रवाह से प्रभावित होकर भारत का प्रधान मन्त्री जवाहर लाल उनमें अपना पार्थिव अवशेष मिलाने के लिए उत्कंठित हो उठे तो आश्चर्य ही क्या? और फिर अक्षयवट को अपनी गोद में समाले, वह दुर्ग—अकबर का बनवाया हुआ वह गढ़ भी ज्यों का त्यों खड़ा है, मुगलों के वैभवपूर्ण सुनहले दिनों की, ज्वलंत, मधुर और मन्दिर स्मृति लिए हुए, लुटे हुए वैभव की कसक लिए हुए यमुना की ठण्डी कोमल लहरों की थपथपी पाकर चुपचाप खड़ा है जैसे उसमें प्राण न हों जीवन न हो, आत्मा न हो। पर यह तो संसार का चक्कर है। जो कल था वह आज नहीं है, जो आज है कल नहीं रहेगा।

यह दुनिया सराय फानी देखी। हर चीज यहाँ की आनी जानी देखी।
जो आके न जाए वो बुढ़ापा देखा। जो जाके न आए वो जवानी देखी॥

नीचैर्गच्छत्युपरि च तथा चक्रनेमिक्रमेण। (कालिदास)
[सुख और दुख तो पहिए के समान कभी नीचे जाते हैं, कभी ऊपर।]

राजनीतिक परिस्थिति प्रयाग ही नहीं, उस दिन का हिन्दुस्तान भी जिसने देखा होगा वह आज के हिन्दुस्तान को नहीं पहचान सकता। एक राजनीतिक आग लगी थी—वही अगस्त वाली आग—न जाने कैसे लगी थी, पर उसने समस्त उत्तरी भारत को अपनी लपट में समा लिया था। कोई कहता है कि वह आग विदेशी जुए को कन्धे से हटाने के लिए लगी था, कोई कहता है कि कुछ देशी राजाओं ने अपने खोए हुए राज्य को लौटा लेने के लिए लगाई था, कोई कहता है कि बेड़ियों में जकड़ी हुई भारत माता का बन्धन खोलने के लिए यह आग लगाई गई थी, कोई कहता है कि यह गोलियों की धर्मान्धता मात्र थी और कुछ नहीं, जितने मुँह उतनी बातें। किन्तु आग लगी थी यह सत्य है। क्यों लगी थी? यह प्रत्येक बुद्धिमान् समझ सकता है। पर वास्तव में आग कितनी तीव्र थी, कितनी विकराल थी। लाखों हिन्दुस्तानी और अंग्रेज उसकी लपटों में जल मरे। यह बुझी तो सही पर जिस लिए वह लगी थी वह उद्देश्य पूरा नहीं हो पाया। विदेशी जुआ हमारे कन्धे से न हटा, देशी राजाओं ने अपना राज्य लौटाने के लिए जो किए, दिल्ली के सम्राट बहादुरशाह बन्दी बनाकर रंगून भेज दिए गए। उनके पुत्रों को गोली मार दी गई। महारानी लक्ष्मीबाई ने वीरगति प्राप्त की। नाना साहब लुप्त हो गए। उलटे यह हुआ कि हमारी आपस की फूट से अवसर पाकर भारत माता के बन्धन को और दृढ़ता से बाँध कस दिया। हमारे भाग्य की कुञ्जी कम्पनी के हाथ से निकल न सही पर उस समय तो पार्लियामेंट के हाथों में सौंप ही दी गई जिसके प्रतिनिधि लॉर्ड कैनिङ्ग ब्रिटिश भारत के पहले शासक नियुक्त होकर आ गए। पर हम जिस दिन की बात कह रहे हैं उस दिन आग बुझ चुकी थी। उसकी राख ठंडी हो गई थी और चारों ओर सन्नाटा छा गया था। तोप और बन्दूकों की गड़गड़ाहट बन्द हो गई थी। सड़कों के किनारे पेड़ों पर टंगे हुए वे फाँसी के फन्दे उतार लिए गए थे जिन पर निरपराध नागरिकों को अनायास पकड़ कर टाँग दिया जाता था और प्रयाग में ही १ नवम्बर सन् १८५८ ई० को लॉर्ड कैनिङ्ग का शानदार दरबार हुआ जिसमें अंगरेजों का साथ देने वाले कई देशी राजाओं को उदारतापूर्वक अनेक पदवियाँ बाँटी गई। अब हिन्दुस्तान फिर चुप होकर बैठ गया, और जैसा इसका पुराना अभ्यास है, फिर अपने काम धन्धे में लग गया मानो कुछ हुआ ही नहीं।

आर्थिक स्थिति पर विपत्ति कभी अकेली नहीं आती। सन् १८६०-६१ ई० में तत्कालीन पश्चिमोत्तर देश (वर्तमान उत्तर प्रदेश) पर भगवान इन्द्र रूठ गए। न बादल उठे न जल बरसा। त्राहि त्राहि मच गई। यमुना और सतलज के बीच में तो लोगों की इतनी बुरी दशा थी कि किसी को अन्न का एक दाना मुँह में डालने को नहीं मिला। नौ महीनों तक लगातार पचीस सहस्र अकाल पीड़ितों को सरकारी सहायता और अस्सी सहस्र को धर्मार्थ सहायता मिलती रही, इस पर भी पाँच लाख जीते जागते प्राणी भूख से तड़प-तड़पकर चल बसे। कितना भयानक वह अकाल होगा। यह यहीं समझिए कि वे हिन्दुस्तानी थे, सभ्य आर्यों की सन्तान थे, काल के मुँह में पड़कर भी उन्होंने धर्म नहीं छोड़ा। वे मरते मर गए पर उन्होंने न तो लूटमार की, न हत्या की। पर क्या भगवान इन्द्र के क्रोध के ही कारण यह अकाल पड़ा था? इस प्रश्न का उत्तर सुनकर ही जी काँप उठता है।

धार्मिक स्थिति हिन्दू धर्म की नाव उस समय आँधी और लहरों में पड़ी डगमगा रही थी। कई

मांझी थे, खाली डांड़ और पतवार थामे हुए थे। जब जिधर जी करता था उधर अपने अपने मन से खेते जा रहे थे। बूढ़ी नाव पर बेचारा हिन्दू धर्म थका, मांदा, निःसहाय बैठा अपनी पुरानी नाव खेए जा रहा था। यदि कोई नाव को सुधारने की सम्मति देता था तो वह अपराधी समझा जाता था और नाव पर से ढकेल दिया जाता था। उधर विलायत से दूसरी नाव आ पहुँची थी जो दृढ़ भले ही न हो पर देखने में अच्छी लुभावनी और चमकदार थी। बस हमारे नौजवान लगे धड़ाम धड़ाम हिन्दू धर्म की नाव पर से कूदने और नये नई नई लुभावनी नावों पर चढ़ने। हिन्दू धर्म चारदीवारी से घिरी नाव पर चढ़ा बैठा था कि उस पर से फाँदकर कूद निकलना भी कठिन था और फांदने के बाद भीतर आना तो प्रत्यक्ष असम्भव था। बड़ा कठोर दबदबा था इसलिए अंगरेजी पढ़े लिखे कुछ लोगों ने हिन्दू धर्म को तिलाञ्जलि दी और अंगरेजी रङ्ग में ऐसे रंगे कि उनका खाना, पीना, उठना, बैठना, बोलना चालना सब अंगरेजी हो गया। पश्चिमी हवा का ऐसा झोंका आया कि इन नये पौधों को उड़ा ले गया। इतना ही नहीं, वे अपने बाप दादा के धर्म को कोसने लगे, अपने साहित्य में दोष निकालने लगे, और प्राच्य संस्कृति की जड़ उखाड़ने के लिए कमर कसकर अखाड़े में आ उतरे।

तत्कालीन शिक्षा पाठशालाओं और मकतबों से लोग उकता उठे थे। पाधाओं और मौलवियों के डण्डे ने पहले से ही उन्हें डरा रखा था। अंगरेजी स्कूल खुलते ही लोग उन्हीं की ओर दौड़ पड़े। उस समय एण्ट्रेन्स परीक्षा पास करके लोग धरती पर पैर न रखते थे। समझते थे कि हम न जाने किस दिव्य लोक के रहने वाले हैं। सन् १८५६ ई० में कलकत्ते, बम्बई और मद्रास में विश्वविद्यालय स्थापित हो गए थे। स्थान स्थान पर उच्च शिक्षा के लिए अनेक कौलेज भी खुल चुके थे। उस समय कलकत्ते के प्रसिद्ध हिन्दू कौलेज में वहां के विख्यात अध्यापक डिरोजियो महोदय का बड़ा बोलबाला और दबदबा था। वे परिश्रमी साहित्य और दर्शन के बड़े धुरन्धर विद्वान थे। उन्होंने भारतीय छात्रों को कुछ ऐसी घूंटी पिलाई कि हिन्दू विद्यार्थी बड़े स्वच्छन्द हो उठे, हिन्दू धर्म में मीनमेख निकालने लगे, यहाँ तक कि उन्होंने कौलेज से "पार्थिनन" नाम का एक पत्र निकाला जिसमें आदि से अन्त तक हिन्दू धर्म की निन्दा भरी रहती थी और जिसे इसी कारण कौलेज के अधिकारियों ने बन्द भी कर दिया। इतना ही नहीं, वहीं के छात्रों ने अपना खान पान भी बदल दिया और धुआँधार अंगरेजी ढंग पर मांस मदिरा का सेवन करने लगे। उनकी यह कुचाल देखकर तो लोगों के कान खड़े हो गए और वे अपने लड़कों को अंगरेजी पढ़ाने में आगा पीछा करने लगे। उधर जब प्रश्न उठा कि शिक्षा देशी भाषा में दी जाय या अंगरेजी में तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सञ्चालकों में ही आपस में बड़ी तूतू मैं मैं मची। कोई संस्कृत और अरबी पढ़ने के पक्ष में था तो कोई अंगरेजी। लौर्ड विलियम बेंटिंक ने यह झगड़ा लौर्ड मैकौले के हाथ सौंप दिया जिसने डङ्के की चोट कह दिया कि "योरोप के किसी भी अच्छे पुस्तकालय की एक आलमारी हिन्दुस्तान और अरब के सारे साहित्य के बराबर है।" उसने अंगरेजी शिक्षा का समर्थन करते हुए स्पष्ट कह दिया—'हम चाहते हैं कि भारतीय केवल रंग में भारतीय रहें, शेष आचार, विचार भाषा और व्यवहार में अंगरेज हो जाय। फलतः माइकेल मधुसूदन दत्त जैसे लोग डिरोजियो महोदय के रङ्ग में रंग गए और जनेऊ उतारकर गिरजाघर में जा पहुँचे। उन्होंने सन् १८६१ में अपना प्रसिद्ध मेघनादवध काव्य लिखा जिसमें उन्होंने रावण का गुन बखाना और राम लक्ष्मण को जी भरकर कोसा। इसीसे समझा जा सकता है कि उस समय हिन्दू युवकों की क्या दशा हो गई थी।

दार्शनिक और सामाजिक प्रवृत्तियाँ उस समय तक राजा राममोहनराय (१७७६-१८३३) का ब्रह्म समाज फल फूल चुका था और केशवचन्द्र सेन (१८३८-८४) भी अपना सुधार आन्दोलन प्रबल

कर लिया था। श्रीरामकृष्ण परमहंस (१८३४-८६) ने उधर अपना वेदान्तराग बरसाना प्रारम्भ कर दिया था और उनके महाशिष्य स्वामी विवेकानन्द (१८६३-६३) ने खेतड़ी के राजा साहब की सहायता से अमरीका में शिकागो के सर्वधर्म सम्मेलन में हिन्दू धर्म और दर्शन के दुन्दुभिनाद से विश्व को विस्मित कर दिया था। स्वामी दयानन्द सरस्वती भी अपने गुरु स्वामी विरजानन्द जी को गुरुदक्षिणा देकर वैदिक धर्म का झण्डा लेकर निकल पड़े थे। संकट के समय भी हिन्दू धर्म बड़ी कठिनता से पुराने डाँड को थामे हुए आँधी के सभी झोंके सहता हुआ खड़ा रहा क्योंकि अच्छे अच्छे माँझी उसकी पतवार थामते चले आ रहे थे।

हमारा व्यवसाय ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने हिन्दुस्तानी हस्तकुशल कलाकारों और व्यापारियों के अँगूठे काट लिए। हमारा व्यवसाय धुन्ध हुआ पड़ा कराह रहा था। उसमें न तो स्वयं उठकर खड़ा होने का दम रह गया न कोई उसे सहारा देनेवाला ही दिखाई पड़ रहा था। जब-जब उसने उठने का प्रयत्न किया तब-तब उसे डण्डा दिखाकर बिठा दिया गया। सन् १८५१ में अमरिका को भी लड़ाई की आग तापने की धुन चढ़ी। संयुक्त राज्य अमरीका के उत्तरी और दक्षिणी प्रान्तों में घमासान लड़ाई प्रारम्भ हो गई। लंकाशायर (इंगलैंड) में रुई के पुतलीघरों को दम घुटता सा लगा क्योंकि उनकी रुई वहीं से आती थी। भारत प्रसिद्ध व्यापारी प्रेमचन्द रायचन्द और प्रसिद्ध पारसी व्यवसायी जमशेदजी नसरवानजी ताता ने इस अवसर से लाभ उठाया और यहाँ से रुई भेजकर इक्यावन करोड़ रुपये कमाए और इसी विराट लाभ के कारण ही बम्बई ग्राम का बम्बई नगर बन गया। पर पाँच बरस में ही यह लड़ाई बन्द हो गई जिससे इन भारतीय व्यापारियों को बड़ी हानि भी उठानी पड़ी। पहली जुलाई सन १८६५ ई० बम्बई के इतिहास में काला दिन समझा जाता है। क्योंकि अचानक युद्ध बन्द हो जाने से सहसा धनी निर्धन हो गए और निर्धन भिखारी बन गए। किन्तु ताता ने फिर बुद्धिमानी के साथ भारत में ही रुई का व्यापार चला दिया और विलायत से काम सीखकर यहाँ पुतलीघर खोल दिए।

यह थी भारत की दशा संवत् १९१८ में—सन् १८६१ में।

हाँ तो उन्हीं दिनों प्रयाग में चौक के दक्खिन की ओर सूर्यकुण्ड या लालडिग्गी नाम का एक मुहल्ला था जो आजकल मालवीय नगर भारतीभवन रोड कहलाता है। इसी मुहल्ले में उस समय एक नाला था जिसके पास ही कुछ ब्राह्मणों के घर खड़े थे, जिनमें से कुछ तो वैसे ही वे जैसे अब भी नए ढङ्ग के पक्के मकानों के बीच अपनी पुरानी पारम्परिक स्मृति और अपना अस्तित्व लिए हुए अपनी अन्तिम घड़ियाँ गिनते हुए मूक खड़े हैं। उसी मुहल्ले के दक्खिन की ओर पीपल और बेर का घना जङ्गल था जहाँ हाथीवान लोग अपने हाथियों को पीपल के पत्तों का भोज देने के लिए निरन्तर आते रहते थे। अब भी उन पुराने पीपल के पेड़ों में से कुछ, नवीन सभ्यता के कुल्हाड़े से जान बचाकर अपने भावी विनाश के भय से काँपते हुए पक्के मकानों से घिरे कहीं-कहीं खड़े दिखाई दे जाते हैं।

बात २५ दिसम्बर सन् १८६१ की है। प्रयाग में उस दिन कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा था। सन्ध्या फूल चुकी थी। लोग दिया बत्ती करके घरों में बैठे आग ताप रहे थे। उसी दिन इसी लाल डिग्गी (अहियापुर) के कूचा सावलदास मुहल्ले में पौष कृष्ण अष्टमी, बुधवार सम्वत् १९१८ (२५ दिसम्बर सन १८६१ ई०) को—ठीक उसी दिन जब १८६१ वर्ष पहले बेथलहम में साधु महात्मा ईसा का जन्म हुआ था—भारद्वाज गोत्रीय श्रीगौड़ चतुर्वेदी पण्डित ब्रजनाथ व्यास जी के घर पराधीन जन्मभूमि की पीड़ा लेकर, निःसहाय तथा पराधीन देशवासियों की व्यथा लेकर और हिन्दू सनातन धर्म का सच्चा प्रकाश लेकर सौभाग्यवती श्रीमती मूनादेवीजी की पावन कोख से सन्ध्या को ६ बजकर ५४ मिनट पर एक बालक उत्पन्न हुआ, जिसका नाम रक्खा गया मदनमोहन।

मल्लई ब्राह्मण

जब खैबर के दर्रे से आनेवाली यावनी आँधियों के कारण तक्षशिला के ज्ञानदीपक का निर्वाण हो गया और सुन्दर समृद्ध नालन्दा, जिसके सम्बन्ध में कहा गया है—'नालन्दा हसतीव सर्वनगरी।' (नालन्दा इतनी सुन्दर सुसम्पन्न और सुन्दर नगरी है कि वह विश्व की सब नगरियों की हँसी उड़ाती रहती है।) अपने ग्रन्थों का अपूर्व भाण्डार लिए हुए बख्तियार खिलजी की नृशंस धर्मान्धता का आखेट बनकर छः महीनों तक जलता रहकर भस्मसात हो गया तब भी हिन्दुस्तान ने जिस जतन और लगन से अपनी पुरानी विद्या और अपने ज्ञान को बनाए रखा, यह कम आश्चर्य की बात नहीं है। जब यवन सम्राटों की निर्दय तलवारों की धार पर चोटी और जनेऊ चढ़ाए जा रहे थे, जब विदेशी भालों की नोकों पर कायरों ने अपने प्यारे धर्म को शूली देने में भी लाज न की, तब भी हिन्दुस्तान में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी जिन्होंने बड़ी सांसत सहकर, दुख भोगकर, यातनाएँ झेलकर, शिव, राम और कृष्ण के नाम की माला अपने कण्ठ में कसकर बाँधे रखी। काशी, काश्मीर और मालवा में हिन्दुओं का शासन उठ जाने पर भी, उनके मन्दिरों के कंगूरों में से मस्जिद की मीनारें निकल आने पर भी उन्होंने हिन्दूपन को कसकर पकड़ रखा। दाँतों के बीच में जीभ के समान, सैकड़ों बवण्डरों और झंझाओं को झेलकर भी वे सिर पर चुटिया रखे, गले में जनेऊ डाले पुराने प्रकाश की बिखरी हुई ज्ञान किरणों को अपने कण्ठ में निष्ठापूर्वक सजाए हुए कहीं-कहीं अब भी दिखाई पड़ जाते हैं। पर बीसवीं सदी का प्रगतिमान संसार उन्हें कब तक जीने देगा, यह विचारणीय समस्या है।

चार सौ बरस पहले कबीरदास ने कहा था—'देश मालवा गहिर गंभीर, पग-पग रोटी डग डग नीर'। सचमुच यही बात थी। मालवा में खेत सोना गलते थे। सबके दाँत मालवा पर गड़े रहते थे। भोज परमार (१०१८–१०६०) ने धार (मालवा) में संस्कृत विद्या सीखने के लिए जो विशाल सरस्वतीभवन विद्यालय खोला था, उसके जीर्ण शीर्ण खंडहर बड़ी करुणा से आज भी कमालमौला मस्जिद की मीनारों में से झाँककर अपने विगत वैभव की करुण गाथा सुना रहे हैं। सब प्रकार से मालवा सुखी था, फिर भला उसकी बढ़ती, मतवाले लुटेरों की आँखों में क्यों न खटके! पर जब तक हिन्दू राजा एक दूसरे की बाँह पकड़े डटकर खड़े रहे तब तक बाहरी धक्के उन्हें तिल भर न हिला सके, किन्तु जिस दिन उन्होंने हाथ छुड़ाकर एक दूसरे पर हाथ छोड़ना आरम्भ कर दिया उसी दिन से हिन्दू साम्राज्य में भूकम्प आने लगे और एक एक राज्य पके हुए फल के समान टपटप गिरने लगा। हिन्दुस्थान के इतिहास में ये नई घटनाएँ नहीं थीं।

पर हम जिस दिन का स्मरण दिला रहे हैं उस दिन मालवा का भाग्य तो महमूद खाँ नामक यवन शासक के हाथ में था किन्तु उसी के अधीन एक हिन्दू राजा को बैठे-बैठे यह सनक चढ़ी कि

ब्राह्मणों के दोनों दलों को एक पंक्ति में बैठाकर भोजन कराया जाय। इनमें एक थे पञ्चगौड़, दूसरे थे पञ्चद्रविण। ये तो दोनों ही ब्राह्मण और उनमें धर्मशास्त्र के अनुसार कोई भेद भी नहीं था पर उनमें रोटी-बेटी का व्यवहार नहीं था क्योंकि दोनों के रहन सहन, खान पान, चाल ढाल में आकाश पाताल का अन्तर था। एक सिन्धु गङ्गा के हरियाले प्रदेश में पले थे दूसरे दक्षिण के पठार में। इस प्रकार के अनेक अत्याचार और अनाचार यवन शासन-काल में होते ही रहते थे किन्तु इस यवन तिथि प्रमाण वर्ष (संवत १५०६ विक्रमाब्द) में वहाँ के निष्ठावान् श्रीगौड़ ब्राह्मण अपना डेरा डण्डा बाँधकर अपनी जन्म भूमि को नमस्कार करके जिधर देखा उधर चलते बने, क्योंकि शासन में रहकर वे मगर से बैर नहीं मोल लेना चाहते थे। उन तेजस्वी ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणों को बार-बार श्रद्धा सहित प्रणाम है जिन्होंने अपनी आन और अपने संस्कार बचाए रखने के लिए अपनी जन्म भूमि अपने बाप-दादों की धन धरती को भी लात मार दी। इस युग के लोग ऐसी बातें सुनें तो मुस्कराकर हँस दें और कह दें कि ऐसा क्या पागल कुत्ते ने इन्हें काटा था कि इतनी सी बात के लिए अपना धन धाम सब छोड़कर चल दिए पर जो अपना आन और अपने नियम का मोल जानता है वह इन ब्राह्मणों के त्याग के आगे नतशिर हुए बिना नहीं रह सकता।

इन्दौर के पास एक कोडिया या कुरहरा नाम का गाँव था जहाँ श्रीगौड़ ब्राह्मणों की बड़ी भारी बस्ती थी। उन्हें भी इस सम्मिलित भोज के लिए निमन्त्रण मिला था। अतः, उन्होंने भी मालव प्रदेश छोड़ने का सङ्कल्प कर लिया। फलतः इनके दो तीन कुटुम्बों के साठ-सत्तर ब्राह्मण पूरब की ओर चल पड़े। उन दिनों अच्छी सड़कें तो थीं नहीं, जो थीं भी वे भलमानुसों के लिए त्याज्य थीं। उन सड़कों पर चोर-डाकुओं का ही अखण्ड राज्य था। दोनों ओर जङ्गल पड़ते थे। इन जङ्गलों में एक निरङ्कुश तथा क्रूर गोंड और भील रहते थे जो किसी का भी प्राण लेने में किसी प्रकार का सङ्कोच नहीं करते थे। धनुष पर बाण चढ़ा तन पर वार कर लक्ष्य मात्र देखते थे कि वह ठीक है या नहीं पर लगा कौन बा रहा है यह जानने की न तो उन्हें बुद्धि थी न संस्कार, न शिक्षा। ये बेचारे कुरहर के ब्राह्मण भी अपने भोलेपन के कारण इन्हीं भीलों के हाथ में पड़ गए। पर कुछ भगवान की कृपा ही समझना चाहिए कि ये ब्राह्मण उन भीलों के निर्दय हाथों से छूट निकले। पर इनका छुटकारा सेंत में ही नहीं हुआ। इन्हें यह वचन हारना पड़ा कि हमारे कुल के सब मङ्गल कार्यों में भरतजी की पूजा हुआ करेगी और तभी से पूर्व की ओर आए हुए सभी श्रीगौड़ों के घर में सब शुभ कार्यों में कुल देवता का मन्त्र "कारे गोरे कुरहर के भरो" अब तक प्रचलित है। पुरखों के किए हुए इन वचनों के पालन का श्रेय श्रीगौड़ों की गृह-लक्ष्मियों को ही दिया जा सकता है। मध्यप्रान्त और मालवा से पूर्व की ओर रहनेवाले सभी श्रीगौड़ ब्राह्मणों में इस मन्त्र का प्रचार है।

हाँ तो ये ब्राह्मण अपने कुरहरा या कोडिया गाँव से पूरब की ओर चलकर बढ़ते बढ़ते पटने तक पहुँच गए। बहुत दिनों तक मगध की राजधानी पाटलिपुत्र में डटे रहने से इनका कुटुम्ब बढ़ा यश बढ़ा और उसके साथ साथ इनका विस्तार भी आवश्यक हो गया। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि ये लोग केवल पूजा पाठ करनेवाले साधारण ब्राह्मण मात्र न थे। इन्होंने कठोर तपस्या करके विद्याधन तो कमाया ही था किन्तु विद्या के साथ साथ इन्होंने विनयशील और सदाचार की भी सिद्धि की थी जिसने सोने में सुगन्ध का काम किया था। बस ये विद्वान, कर्मनिष्ठ तपस्वी ब्राह्मण जहाँ जहाँ पहुँचे वहाँ वहाँ पुजने लगे। एक मिश्रजी,—नाम तो ज्ञात नहीं—इनमें से कुछ को प्रयाग की ओर

ले आए, जिसमें से कुछ तो मीरजापुर (मिर्जापुर) उत्तरप्रदेश में जा बसे और कुछ त्रिवेणी तट पर डेरा लगाकर जम गए। मिर्जापुर में अभी तक इन ब्राह्मणों के सौ डेढ़ सौ घर होंगे और प्रयाग में तो अकेले मालवीय नगर (भारती भवन) मुहल्ले में ही इनके लगभग पचास घर हैं। नौकरी चाकरी में लग जाने के कारण ये और भी स्थानों में फैलते गए हैं। इनमें से कुछ चतुर्वेदी (चौबे), कुछ दूबे और कुछ व्यास भी कहलाते हैं।

मिर्जापुर में जो श्रीगौड ब्राह्मण पहुँचे उनमें से तीन घरानों ने अपनी वंभाई छोड़कर व्यापार पर ध्यान दिया। लक्ष्मी इन पर प्रसन्न हो गई, और इनके घरों में सोना बरसने लगा। पर प्रयाग में जो ब्राह्मण गए वे विद्वान और भक्त थे, कथा वार्ता कहते थे, विद्यार्थियों को पढ़ाते थे और भगवद्भजन करते थे। सन्तोष ही उनका धन था, व्यापार में रुचि नहीं थी, विनय के पुतले थे और उन्होंने दूसरे के आगे हाथ फैलाने का पाठ नहीं सीखा था, इसलिये लक्ष्मी तो इनके घर कभी न आई, हाँ सरस्वती ने इनके घर में अपना मन्दिर अवश्य बना लिया। ये मालवा से आए थे इसलिए ये लोग मलई या मलैया ब्राह्मण कहलाने लगे जो पीछे चलकर मालवीय हो गए।



बड़ों का प्रसाद

प्रयाग के श्रीगौड़ ब्राह्मणों में भारद्वाज गोत्रीय चतुर्वेदी श्रीविष्णुप्रसाद के पुत्र पण्डित प्रेमधरजी बड़े प्रसिद्ध परमभागवत हो गए हैं। तड़के पौ फटने से पहले अंधेरे मुंह उठकर गङ्गा-स्नान को जाना और आना तथा दिन रात राधा कृष्ण की पूजा उपासना में लगे रहना यही उनकी दिनचर्या थी। कहना सुनना, खान पान, लेन देन आदि उनका सब व्यवहार कन्हैया से ही होता था। कभी कपूर जलाकर वे कन्हैया की आरती उतारते तो कभी मस्त होकर भगवान् के सामने नाचने लगते—कभी माला लेकर राधा कृष्ण जपते तो कभी भाव में डूबकर स्तोत्रपाठ करते। राधा कृष्ण ही उनके सब कुछ थे।

उनके कन्हैया जी की मूर्ति कोई साधारण नहीं है। डेढ़ हाथ ऊंची साँवले रङ्ग की ऐसी सुन्दर मूर्ति तो गोकुल व वृन्दावन में भी न होगी। उसी में वे तन्मय हो गए थे—

या अनुरागी चित्तकी, गति समुझै नहिं कोय।
ज्यों ज्यों बूड़ै श्याम रंग त्यों-त्यों उज्ज्वल होय॥

एक दिन किसी दुष्ट ने यह मूर्ति ले जाकर कुएं में फेंक दी। प्रेमधरजी लौटे तो देखा मूर्ति गुम! पछाड़ खाकर गिर पड़े बच्चों के समान रोने लगे और खानापीना छोड़कर मनमारे बैठ गए, जैसे उनका सर्वस्व लुट गया हो। कृष्ण उनके सर्वस्व थे भी तो। उसी मूर्ति के सहारे तो उनकी जीवन चर्या चलती थी। वही नहीं रही तो फिर संसार में उनका रहा ही क्या। जब तीन दिन तक निराहार बीत गए तो रात को भगवान ने सपना दिया कि हम कुएं में पड़े हैं निकाल लो। अन्त में कुएं में से मूर्ति निकली तब कहीं प्रेमधर जी ने जल ग्रहण किया। ऐसे अनन्य भक्त थे वे राधाकृष्ण के।

चारों ओर जङ्गल तो था ही। एक दिन एक बाघ के बुरे दिन आए। वह लड़के निकला और उनके घर में घुसकर बैठ गया। पण्डित प्रेमधर जी गङ्गा स्नान से लौटे तो देखा कि भीड़ लगी है। कोलाहल मचा है किसी का साहस नहीं होता था कि भीतर पैर रक्खे। लोगों के लाख रोकने और मना करने पर भी वे अपना कमण्डलु लिए हुए निडर होकर भीतर पहुंचे तो देखा कि एक बड़ा सा सिंह बड़े तेज के साथ वहां चुप चाप बैठा हुआ है। इन्हें देखकर वह न तो गुर्राया न झपटा। पण्डित प्रेमधर जी की सौम्य सात्विक मूर्ति के आगे उसकी पशुता ठण्डी पड़ गई। वह सिंह सचमुच बिल्ली बन गया। प्रेमधर जी आगे बढ़े और उसके खुले मुंह में गङ्गाजल डाल दिया मानो वह सिंह अपनी मुक्ति की लालसा से ही वहां आया हो। उसे गङ्गाजल देकर प्रेमधर जी बाहर निकले। फिर क्या था। उन्हें जीता जागता लौटते देख लोगों का साहस बढ़ गया और बात की-बात में बाहर इकट्ठे हुए लोगों ने लाठियों से उस सिंह का कचूमर निकाल दिया।

पण्डित प्रेमधर जी कितने बड़े कृष्ण भक्त थे यह तो एक इसी बात से प्रकट हो जाता है कि

उन्होंने १०७ दिनों में भागवत का १०८ बार पारायण किया था। पण्डित प्रेमधर जी ने चौरासी वर्ष लम्बी आयु पाई। संसार से विदा लेने के दिन उन्होंने अपने सब कुटुम्बियों को आदेश दिया कि हमें गङ्गातट पर ले चलो। सारा परिवार प्रेमधर जी को लेकर गङ्गातट पर जा पहुँचा। वहाँ स्नान ध्यान करके प्रेमधर जी पद्मासन लगाकर बैठ गए। थोड़ी ही देर पश्चात् उस वृद्ध तपस्वी शरीर को अन्तिम संस्कार के लिए छोड़कर उनका दिव्य आत्मा सदा के लिये राधाकृष्ण में लीन हो गया।

पण्डित प्रेमधर जी पाँच भाई थे। उनमें से पण्डित माधोधर अद्वितीय वैयाकरण थे, पण्डित मुरलीधर ने संन्यास ग्रहण कर लिया, पण्डित वंशीधर संस्कृत साहित्य के धुरन्धर पण्डित थे, पण्डित दामोधर अद्वितीय ज्योतिषी थे। पण्डित प्रेमधर जी के चार संतान हुईं—लालजी, बच्चूलालजी, गदाधरजी और ब्रजनाथजी।

पण्डित ब्रजनाथ चतुर्वेदी अपने परम भागवत पिता के अत्यन्त सुयोग्य पुत्र निकले। अपने पिताजी से उन्होंने भव्य सुन्दर देह विमल बुद्धि और राधाकृष्ण की अनन्य भक्ति पाई। उनके पिता के पास और था भी क्या? सदाचारी ब्राह्मण अपनी संतान को इससे अधिक और दे ही क्या सकता था? इस महानिधि के साथ साथ पण्डित ब्रजनाथजी ने बड़े परिश्रम और लगन से संस्कृत विद्या को अपनाया और संस्कृत के प्रौढ़ पण्डित हो गए। सदाचार, भगवद्भक्ति और विद्या, यही उनका धन था, और एक घर था वह भी बहुत बड़ा नहीं कहा जा सकता, जिसमें वे अपने चार भाइयों के परिवार के साथ कोठरियाँ बाँटकर रहते थे।

उनका घर क्या एक छोटा-सा कच्चा पक्का झोपड़ा था—छोटा सा आँगन तीन और छोटी छोटी कोठरियाँ। नीचे सामने भगवान् कृष्ण का ठाकुर घर, ऊपर खपरैल से छाई हुई कोठरियाँ। इसी छोटे से घर में इतना बड़ा परिवार किसी किसी प्रकार रहता था और इसी घर के नीचे वाली एक छप्परदार कोठरी में मदनमोहन का जन्म हुआ था।

पण्डित ब्रजनाथ जी ने अपना कुछ बचपन ननिहाल में ही बिताया और सच पूछिए तो संस्कृत विद्या का कुछ धन उन्होंने ननिहाल में भी पाया था। चौबीस पच्चीस वर्ष की नई जवानी में ही वे व्यास बन गए और अपने घर के पास ही लोकनाथ महादेव पर भागवत की कथा कहने लगे। सुडौल सुन्दर देह के साथ साथ उन्हें मधुर कण्ठ भी मिला था। जब बोलते थे तो मानो मिश्री घोलते थे। एक तो मीठी बोली और फिर ब्रजभाषा—कोमल और बसन्त—सुनने वाले लट्टू हो जाते थे। रीवाँ दरभङ्गा और काशी के महाराजाओं ने उनका बड़ा सम्मान किया। कितने ही रजवाड़े इन्हें गुरु मान चुके थे। वे वंशी बजाकर जब गाते थे—

गावो मधुरा गोपा मधुरा यष्टिर्मधुरा सृष्टिर्मधुरा।
दलितं मधुरं फलितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरं॥
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं वचनं मधुरं चरितं मधुरं।
वलितं मधुरं चलितं मधुरं भ्रमितं मधुरं ललितं मधुरं॥
अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं वसनं मधुरं।
हसितं मधुरं वलितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरं॥

तो मधुरा ऐसा मधुर पीयूष स्रोत बहने लगता था कि श्रोतागण मन्त्रमुग्ध होकर नाच उठते थे। उनकी कथा इतनी भावमयी होती थी कि कभी हँसते तो कभी रोते कभी आवेश था तो कभी पूर्ण शान्ति। जान

पड़ता कि नाट्य शास्त्र के शृंगार रस पण्डित व्रजनाथ व्यास जी के रूप में साकार होकर विराजमान हैं। नये-नये उद्धरणों उदाहरणों और दृष्टान्तों से सजाकर शान्त, गम्भीर तथा संयत भाव से जब वे भगवान् की कथा का सरस रस बाँटते थे उसका वर्णन करने का सामर्थ्य किसमें है—गिरा अनयन, नयनबिनु बानी।

वे मधुर भाषी और विनम्र तो थे ही पर सन्तोषी भी पूरे थे। उन्होंने कभी किसी के आगे हाथ नहीं पसारा। जो कुछ उनको कथा पर चढ़ गया उसी से उन्होंने काम चलाया पर किसी से न तो दान लिया, न भिक्षा माँगी। मृदुभाषिता ने क्रोध को और सन्तोष ने लोभ को उनके पास फटकने न दिया इसीलिये इतने बड़े परिवार को लेकर भी वे पूर्णतः सुखी रहे। वे पण्डिताऊ ढङ्ग का कभी अँगरखा पहनते और सिर पर चौगोशिया टोपी या पगड़ी लगाते थे। उनके गले में सदा दुपट्टा पड़ा रहता जिस पर जाड़े के दिनों में वे एक दुशाला डाल लिया करते थे। बाहर से आने पर वे सदा बाहरी कपड़े उतारकर एक ओर रख दिया करते थे। एक बार ऐसा हुआ कि वे वहीं पर बैठे पाठ कर रहे थे। अचानक एक अँगरेज अधिकारी उधर से आ निकला और उसने हाथ से कुछ प्रश्न किया। वे मौन भाव से अपना पाठ करते रहे उसका इन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया। उसने समझा कि ये मेरी उपेक्षा कर रहे हैं और इसलिये उसने इन्हें बेंत से छू दिया। वे तत्काल घर लौट आए और उन्होंने गोबर मलकर सचैल स्नान करके फिर पञ्चगव्य तथा पञ्चामृत ग्रहण करके उन्होंने अपनी शुद्धि की। इतने आचार के पक्के थे पण्डित व्रजनाथजी।

सौभाग्य की वर्षा जब होने लगती है तो वह भरपूर होती है। पण्डित व्रजनाथ व्यासजी का विवाह सहारनपुर में हुआ। सौभाग्य से इनको धर्मपत्नी श्रीमती मूलादेवी जी बड़ी सरल और कोमल हृदयवाली मिलीं। अड़ोस पड़ोस की जो सेवा बन पड़े कर देना और सबसे प्रेम से बोलकर बड़ी शान्ति से सारे घर भर का काम देखना यही उनका काम था। वे किसी को दुखी देख ही नहीं सकती थीं और इसलिये उनकी उदारता निस्सङ्कोच भाव से हर घड़ी सेवा का अवसर ढूँढती रहती थी। उन्होंने किसी को निराश नहीं किया। मुहल्ले भर के सब बच्चे उनके घर के बच्चे बन गए थे। सबको प्यार से बुलाना बैठाना पुचकारना, कुछ खिला पिला देना—बस बच्चे यह नई माता पाकर अपनी अपनी माताओं को भूल गए थे।

सचमुच ऐसी दयावती माता पाने के लिये बड़ा भाग्य होना चाहिए। पण्डित व्रजनाथ जी भी जो कुछ कथा में पाते थे सब उन्हें सौंप देते थे इस छोटी सी पूँजी से सारी गृहस्थी वे न जाने कैसे सँभालती थीं। पंडित व्रजनाथजी वर्ष में एक बार प्रयाग से बाहर भी कथा कहने जाया करते थे जिसमें उन्हें पर्याप्त दक्षिणा मिल जाती थी किन्तु उन्होंने जो कुछ धन-वस्त्र मिल जाता सब लाकर अपनी धर्मपत्नी के हाथ पर सौंप देते थे कि लो वर्ष भर इसी से काम चलाना है।

सन् १८५७ की बात है। वे प्रति वर्ष के क्रमानुसार उस वर्ष भी कथा कहने बाहर गए हुए थे।

इसी बीच सन् १८५७ का विद्रोह भड़क उठा। ये प्रयाग लौटे तो देखा कि अँगरेजों का दमन चक्र चरम सीमा पर पहुँच चुका है। चौक में पहुँचते ही देखते क्या हैं कि पसरहट्टे के सामने वाले नीम के पेड़ पर शव लटक रहे हैं और सङ्गीनधारी गोरे वहाँ टहल रहे हैं। यह देखते ही वे खोल में बँधा हुआ अपना तानपूरा लिए दिए घर की ओर भागे। अभी ये दस पग भी आगे न बढ़े होंगे कि गोरों ने इन्हें पकड़ लिया और तानपूरे की ओर सङ्केत करके पूछा, यह क्या है। इन्होंने किसी किसी

प्रकार संकेत से समझाया कि यह गाने के साथ बजाया जाता है। गोरों ने कुतूहलवश बजाने को कहा तो इन्होंने 'नाथ कैसे गज के फंद छुड़ाए' गाया तो तत्काल भगवान् ने उन गोरों को प्रेरणा दी और वे निरपराध समझकर उन्हें घर तक पहुँचा आए।

पण्डित ब्रजनाथ जी को जीवन वय की अवस्था में रोग ने ऐसा घर दबाया, ऐसा पकड़ा कि फिर वे बाहर न निकल सके। यद्यपि पाँच महीने में ही इन्होंने रोग से छुट्टी ले ली, किन्तु पुरानी शक्ति न लौट पाई। तब से लेकर सतहत्तर वर्ष की अवस्था तक वे बराबर भागवत, रामायण आदि ग्रन्थों का अध्ययन और उनकी मनोहर व्याख्या करते रहे। उन्होंने एक भक्ति प्रतिपादक 'सिद्धान्तपूर्ण' नामक ग्रन्थ भी लिखा था, जो सन १९०६ ई० में अभ्युदय प्रेस द्वारा उनके तीसरे पुत्र मदनमोहन ने प्रकाशित कराया। लगभग साठ वर्ष की अवस्था में उनकी आँख बिगड़ गई। लखनऊ के कर्नल एण्डरसन ने उनकी चिकित्सा की। कर्नल ने कहा कि 'आज तक इतनी अच्छी आँख मुबराई किसी की नहीं हुई। सावधानी से रहना, हिलना डोलना मत। दो घण्टे पश्चात् प्यास लगी। आप उठकर पानी पीना चाहते थे पर आपके पुत्र श्यामसुन्दर के रोकने पर आपने पड़े पड़े पानी पी लिया। पर उनकी धार्मिक भावना सन्ध्या को खटिया पर पड़े हुए शौच करना न सह सकी, अतः वे उठकर गए और नित्य कर्म किया और नित्य नियम के अनुसार थोड़ी-सी भाँग भी ली। यह सब कुछ होते हुए भी उनकी आँख ठीक उतरी।

डाक्टर के मना करने पर भी उन्होंने अपना पढ़ना लिखना न छोड़ा पिछले दिनों में उनकी धारणाशक्ति कम हो गई थी। उन्हें यह भी स्मरण न रहता था कि भोजन किया है या नहीं। सुख और दुःख दोनों उनके लिये समान हो गए। अपने बड़े पुत्र की मृत्यु सुनकर वे 'हरिइच्छा' कह कर रह गए। उनके मुख पर किसी प्रकार का शोक या विषाद नहीं दिखाई दिया। अन्त में सन् १९१० ई० में सतहत्तर वर्ष की अवस्था में उन्होंने भी गोलोक की शरण ली।

भगवान् की भक्ति का प्रसाद मालवीय परिवार में प्रत्यक्ष दिखाई देता है। बड़ा भारी परिवार—पुत्र-पुत्रियाँ नाती-पोते, घर में दुधारू गौएँ—सभी प्रकार का सुख है। जिसे कहते हैं—दूधों नहाओ पूतों फलो का आशीर्वाद ब्रजनाथजी को प्रत्यक्ष मिल गया था।

पण्डित ब्रजनाथ जी के छः पुत्र और दो कन्याएं हुईं। क्रम से उनके नाम हैं—लक्ष्मीनारायण, सुखदेई, जयकृष्ण, सुभद्रा, मदनमोहन, श्यामसुन्दर, मनोहर और बिहारी लाल।

सबसे बड़े पुत्र लक्ष्मीनारायणजी ने महाजनी की शिक्षा पाई थी। वे कुछ दिन प्रयाग के लाला मनोहरलाल के यहाँ मुनीम रहे किन्तु थोड़े दिन पीछे इसे छोड़कर अपना स्वतन्त्र आढ़त का काम करने लगे और अन्त तक यही करते रहे। इक्यावन वर्ष की अवस्था में बद्रीनाथ यात्रा से लौटने पर उन्हें 'पर्वत संग्रहणी' हो गई और उसी में तीन चार महीने के पश्चात् आपका शरीरपात हो गया।

जयकृष्णजी थोड़ी संस्कृत और अंगरेजी जानते थे और रेलवे के डाक विभाग में काम करते थे। इनको बचपन से ही व्यायाम का व्यसन था। कुश्ती बहुत अच्छी लड़ते थे, सङ्गीत में बड़ी रुचि थी, सितार बहुत अच्छा बजाते थे। कहते हैं कि सितार में उनका हाथ इतना तैयार था कि किसी ने ईर्ष्यावश जादू-टोना चला दिया, जिससे आपके हाथ में इतना कष्ट हुआ कि दिन रात नींद नहीं आया करती थी और चिल्लाया करते थे। लगभग बीस दिन के पश्चात् एक साधु भिक्षा माँगते हुए उधर निकल आया जिसने पूजा पाठ आदि करके उसी दिन उन्हें अच्छा कर दिया था। लगभग इक्यावन वर्ष की अवस्था में उनका भी शरीरान्त हुआ।

श्यामसुन्दरजी ने पहले धर्मज्ञानोपदेश पाठशाला में संस्कृत की शिक्षा पाई। फिर उन्होंने थोड़ी अंगरेजी पढ़ी। पच्चीस वर्ष की अवस्था के लगभग आप थोक रेवड़ू के व्यापार में काम करना प्रारम्भ किया, सन् १९२१ ई० में पेंशन ली, तब से ये रिटायर पूजा पाठ करते रहे और सन् १९४४ में दिवंगत हुए।

मनोहर लाल ने भी थोड़ी संस्कृत और अंगरेजी की शिक्षा पाई थी। इनकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी और बड़े होनहार थे। विवाह हुआ। ये थोड़े ही दिन जीवित रहे। न जाने किस कारण अफीम खा ली। डाक्टर आए पिचकारी देकर विष निकाला गया। घर में लाश का सब उतार हुए किन्तु इसका न भिन्न हुआ था मनोहरलाल अपनी नव विवाहिता वधू को अकेली छोड़कर दूसरे लोक को चले गए। पुलिस पहुँचा। मृत्यु परीक्षा के लिए शव माँगा गया। उस समय सरकारी डाक्टर म० न्याय मान् ने कहा— मिट्टी हमारे हो पास ला परीक्षा के लिए भेजाए। मन नग आप पर जो है। मैं प्रमाणित करता हूँ कि अफीम खाने से मृत्यु हुई है। तब पुलिस हटी और शव सत्कार हुआ। इस भांजा में यही एक युवा मृत्यु हुई थी।

बिहारीलाल ने भी संस्कृत और अंगरेजी पढ़ी थी, पर व्यापार की ओर इनकी अधिक प्रवृत्ति थी। वे ठेकेदारी किया करते थे और रेलवे के प्रधान ठेकेदारों में से थे। तपेदिक हो जाने के कारण सन् १९२१ ई० में आपका भी स्वर्गवास हो गया।

बड़ी बहन सुखदेई का विवाह मिर्ज़ापुर में हुआ था। ४८ वर्ष की अवस्था (सन् १९०१) में उनका शरीरान्त हुआ। उनकी अनेक सन्तानें हुई पर कोई जीवित न रहा।

छोटी बहन सुभद्रा को छोटी अवस्था से ही वैधव्य दुःख भोगना पड़ा।

मदनमोहन ने धर्मात्मा परम भागवत दादा और परम भगवद्भक्त तथा विद्वान पिता का अमर प्रसाद और उनकी धार्मिक छाया लेकर उनके सम्पूर्ण गुणों की थाती पाकर जन्म लिया था। पितामह और पिता की भगवद्भक्ति का मदनमोहन पर कुछ कम प्रभाव नहीं पड़ा था और इसीलिए सारा भारतीय राष्ट्र पण्डित प्रेमधर और पण्डित व्रजनाथ व्यासजी के अमर पवित्र गुणों के साक्षात मूर्तिमान् स्वरूप मदनमोहन की उस धवल मूर्ति की ओर ताकता था मानो उसका सारा भविष्य, उसका सारा सुख उसकी सारी अभिलाषाएँ उसी एक धवल देह में छिपी हुई हों।



होनहार बिरवान के होत चीकने पात

मदनमोहन के जीवन की झाँकी पा लेने पर किसी को भी यह मानने में संकोच न होगा कि उनका 'मदनमोहन' नाम भी किसी दैवी प्रेरणा का ही फल है। परम भागवत वैष्णव परिवार में भगवान् कृष्ण का नाम छोड़कर दूसरा कोई नाम टिकने ही क्या लगा, किन्तु मदनमोहन 'किसी' दैवी शक्ति के भेजे हुए आए थे और इसीलिए इन्हें बड़ा मधुर और कोमल नाम मिला, वैसा ही कोमल जैसा मक्खन और वैसा ही मधुर जैसी मिसरी।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसम्भवम्॥

[संसार में जितना भी कुछ विभूतिमान, श्रीमान और ऊर्जस्वित है उस सबको मेरे तेज के अंश से उत्पन्न समझो।] भगवान् श्रीकृष्ण के इस कथन के अनुसार महामना मालवीयजी भी भगवान के साक्षात 'तेजोंशसम्भव' ही थे।

'मदनमोहन'—शब्द एक बार मुँह से उच्चारण करने मात्र से ही जान पड़ता कि आपकी रसना पवित्र हो गई है, जी हल्का हो गया है और मुँह की कड़वाहट जाती रही है। एक उर्दू कवि ने एक बार ठीक कहा था —

है मदनमोहन मेरी मनकामना मजमू। क्या अजब इस नाम में जादू भरा है॥

जान पड़ता है पण्डित ब्रजनाथ व्यासजी का 'ललित मधुरम्' की धारा में यह नाम भी आ गया होगा, जिसे लेकर उन्होंने अपने पुत्र की नाम प्रतिष्ठा की।

माता की गोद से हँस-खेलकर बालक मदनमोहन ने अपने पैरों पर खड़ा होना प्रारम्भ किया और धीरे धीरे बालक बड़ा होने लगा। इनके परिवार की चाल है कि जब घर में ब्याह पड़ता है तो 'माय' पड़ती हैं और सभी बालकों का मुण्डन हो जाता है। इसी कारण कभी दो वर्ष पर, कभी छह महीने पर या कभी-कभी तीन महीने में ही बालक मुड़ जाते हैं। बस, ऐसे ही एक अवसर पर मदनमोहन का भी मुण्डन हो गया।

पण्डित ब्रजनाथजी ने अपने पुत्रों को शिक्षा देने में वह भूल नहीं की थी जो आजकल अधिकांश लोग किया करते हैं। पुराने पण्डितों के समान उन्होंने अपने बच्चों को पहले घर पर ही संस्कृत पढ़ाई, शिष्टाचार की सीख दी और तब कहीं उन्हें घर से बाहर पैर रखने दिया। उसका फल यह हुआ कि बाहरी जग बाय उन्हें न लग सकी। आज-कल के माँ बाप अपने बच्चों की देख रेख बेगार समझते हैं और उनको, जितनी शीघ्र होता है आँख मूँदकर किसी अनाड़ी अध्यापक या किसी विद्यालय के

हाथ सौंप देते हैं, जहाँ वे परीक्षा भले ही पास कर लें, पर ज्ञान तथा गुण प्राप्त नहीं करते हैं। सब इस बात को जानते भी हैं, पर जान बूझकर भी अपने बच्चों को भट्ठी में झोंकने में संकोच नहीं करते। हमारे पुरखा लोग इस बात को भली भाँति समझते थे कि पाठशालाओं और स्कूलों में जो कुछ बहुत प्रकार की संगत मिलती है। उनमें सभी तो पारस होते नहीं इसलिये अपने बच्चों को पक्का बनाकर भेजते थे कि दूसरा रङ्ग चढ़ने ही न पावे। मदनमोहन ने घर पर ही पढ़ना सीखा, नागरी अक्षर सीखे और फिर संस्कृत पढ़ी। अपने दादा और पिताजी से सुन सुनकर बहुत से श्लोक, भजन, स्तोत्र और गीत मदनमोहन को स्मरण हो गए थे। बालक मदनमोहन का मुहल्ले में स्थित एक निःशुल्क श्रीमदक्षर पाठशाला भी जिसका नाम आगे चलकर 'धर्मज्ञानोपदेश पाठशाला' रक्खा गया भरती करा दिया। किन्तु यह पाठशाला उसके विरक्त संन्यासी संचालक श्री हरदेवजी के नाम पर 'हरदेव गुरु की पाठशाला' कहलाती थी। श्रीहरदेव जी बड़े निःस्पृह किन्तु कठोर शासक अध्यापक थे। वे पढ़ाई की अपेक्षा छात्रों के आचार विचार, वेश भूषा, सद्भाव और सदाचरण पर विशेष ध्यान देते थे। अपनी शासन नीति के सम्बन्ध में उन्होंने यह कवित्त लिखकर टाँग दिया था—

उच्च कुल में जन्म पाय अच्छर न आय तुम्हें।
गन्न गवार मुरख बैठे मुरख संग में
हाथ-पाँव बाँधि लटकाय मारे बेंतन के
आदमी बनहौं तुम्हें नहीं भल ढंग में।

किसको क्या दंड दिया जायगा यह पहले से ही लिखकर एक कागज पर टाँग देते थे जैसे उनके एक ऐसे ही आदेश पत्र पर लिखा मिला है—

शिव सहाय आज मूसकं धोती (कमर में फेंटा बाँधकर पहनी हुई) पहनकर और बिना चंदन लगाए पाठशाला में आया है इसलिये वह जूता उतारने की जगह पर एक घंटे बैठे।

दंड भोग चुकने पर शिवसहाय को माथे पर चन्दन लगाना पड़ा होगा और पनिहाऊ (चुनिया कर आग खोसकर) धोती पहननी पड़ी होगी।

पंडित हरदेव जी बड़े निःस्पृह, तपस्वी मनस्वी और तेजस्वी महापुरुष थे। वे संध्या पूजा करके मुहल्ले के किसी भी घर के आगे खड़े होकर भिक्षा के लिये पुकार देते थे। यदि वहाँ मिल गया तो ठीक नहीं तो लौट आते थे और कई कई दिनों तक निराहार रह जाते थे दूसरे के घर नहीं जाते थे। उनकी इस तपस्या का ज्ञान होने पर लोग उत्सुक होकर उनकी प्रतीक्षा भी करने लगे किन्तु वे अश्रद्धा की भिक्षा नहीं लेते थे और पैसा रुपया नहीं छूते थे। एक बार एक पैसा धनी भिक्षा का थाल लेकर पाठशाला में ही पहुँच गए। पंडित जी ने पूछा—श्रद्धा से लाए हो? उन्होंने कहा—'हाँ' तब पंडित जी ने उनसे कहा कि यदि श्रद्धा से लाए हो तो आध घंटे धूप में खड़े रहिए। जब वे आध घंटे खड़े रह गए तब पंडित जी ने उस थाल में से थोड़ी सी सामग्री ले ली और शेष लौटा दी।

ऐसे तपस्वी गुरु के पास अपने दादा और पिता का आशीर्वाद लेकर मदनमोहन भी पण्डित हरदेवजी की धर्मज्ञानोपदेश पाठशाला में पढ़ने बैठा दिए गए। वह पाठशाला अब भी मालवीय नगर भारतीभवन मुहल्ले में पूज्य मालवीय जी के मकान के दक्खिन की ओर विद्यमान है और पण्डित हरदेवजी की पाठशाला के नाम से ही प्रसिद्ध है।

कुछ दिन वहाँ पढ़ने के पश्चात वे विद्याधर्मप्रवर्द्धिनी सभा की पाठशाला में भेज गए। उसके सर्वेसर्वा थे पण्डित देवकी नन्दन जी। वे मदनमोहन को आध मील पर ले जाया करते थे और एक

मोढ़े पर खड़ा करके व्याख्यान दिलाया करते थे। सात बरस का बालक सारे राष्ट्र की नौका खेने का पहला पाठ त्रिवेणी सङ्गम पर सीखने लगा, जहाँ विश्व भर की तीनों पवित्र धाराएँ न जाने किस युग से आकर मिलती रही हैं।

अब नींव पक्की हो गई थी। नौ वर्ष की अवस्था हुई। पिताजी ने बालक को बटु बना दिया। पिताजी ही प्रथम आचार्य बने, उन्होंने ही सावित्री मन्त्र दिया। कौपीन पहने, पलाशदण्ड लिए, कन्धे पर मृगछाला डाले, हाथ में झोली लिए हुए, मदनमोहन ने माता से जाकर कहा—'भवती भिक्षाँ में देहि।' उस समय कौन जानता था कि कौपीन उतार देने पर भी, मृगछाला और दण्ड फेंक देने पर भी एक दिन यही बटु बहुत बड़ी झोली लेकर द्वार-द्वार, नगर-नगर सारे राष्ट्र में निये भिक्षा माँगेगा और 'ससार का सबसे बड़ा भिखारी' कहलाकर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना करेगा। सचमुच किसे विश्वास था कि उस 'भवती भिक्षां में देहि' के पीछे कितने निर्धन, दीन विद्यार्थियों की विवशता से भरी हुई करुण भिक्षा-पुकार छिपी हुई थी। अब मदनमोहन ब्राह्मण बन गए।

बहुत से दब्बू बालक पाठशाला का नाम सुनकर रो देते हैं, किसी के सिर में पीड़ा होने लगती है और कोई कोई तो सचमुच रोगी हो जाते हैं। पर मदनमोहन ऐसे बालक नहीं थे। नित्य प्रात काल नौ और दस बजे बीच, लड़के काँख में पोथी दबाए हँसते-कूदते स्कूल जाते थे, नई-नई बातें करते थे, इतिहास और भूगोल, गणित और चित्रकला का बखान किया करते थे। मदनमोहन के मन में भी लालसा हुई कि हम भी क्यों न अंग्रेजी पढ़ें? पर स्कूल में फीस लगती थी। जिस परिवार में दस मुँह खिलाने पड़ते हों और कमाने वाला एक हो और वह भी ऐसा हो जो किसी के सामने हाथ न फैलाता हो, जो कथा पर चढ़ जाय, उसी पर सन्तोष कर लेता हो और जिसे पाँच रुपए महीने की भी आय न हो, वहाँ स्कूल की फीस और पुस्तकों के लिये पैसा कहाँ से आवे? पहले सरस्वती जी दीनों की कुटिया में रूखी सूखी खाकर भी प्रसन्न हो जाया करती थीं, पर आज-कल की सरस्वती जी बिना पैसे बात नहीं करतीं। दीन घर आने में उन्हें अब सङ्कोच होता है। जान पड़ता है उन पर भी कुछ पश्चिम का प्रभाव हो चला है।

पर पण्डित ब्रजनाथ जी ने अपने होनहार बच्चे का मन छोटा नहीं होने दिया और पेट काट कर भी उसे अंग्रेजी पढ़ने किस प्रकार भेजा वह कथा भी कम करुण नहीं है। मदनमोहन की ममतामयी माताजी ने अपने हाथ के कड़े पड़ोसी महाजन लाला गया प्रसाद के यहाँ गिरवी रख दिए और फीस दे दी गई। फिर हाथ में पैसे आने पर कड़े छुड़ा लिए जाते और फीस के समय किसी के यहाँ गिरवी रख दिए जाते। और इसी कड़े के सहारे मदनमोहन की अंग्रेजी की पढ़ाई चलती रही। मदनमोहन इलाहाबाद जिला स्कूल में उस समय की दसवीं कक्षा (सबसे छोटी कक्षा) में भर्ती हो गए थे। प्रयाग के चौक में घण्टाघर के पीछे जिस भवन में आजकल नगर-महापालिका कार्यालय है उसी में पहले जिला-स्कूल लगता था। एक अंगरेज वार्डन साहब उसके हेडमास्टर थे। स्कूल में समय से जाना पड़ता था, पर मदनमोहन का प्रायः देर हो जाया करती थी। इतने बड़े परिवार में ठीक समय से भोजन बन भी कैसे सकता था और फिर ठाकुर जी को भोग लगाए बिना कोई भोजन कर भी कैसे सकता था बेचारे मदनमोहन को विवश होकर मट्ठे के साथ बासी रोटी खाकर स्कूल जाना पड़ता था। कितनी बड़ी तपस्या थी। थोड़े ही दिनों में इन्होंने स्कूल में अंगरेजी शब्द विन्यास, उच्चारण और सुन्दर लिखने में बड़ी ख्याति प्राप्त कर ली और यह शुद्ध मधुर बोलने और सुन्दर लिखने का अभ्यास उनका अब तक बना रहा।

ये पढ़ने में बहुत मन लगाते थे पर गणित में कच्चे थे और जीवनभर गणित के कच्चे महारानर गणित में कच्चे रहे, पर परिश्रम करके इन्होंने कमी को कभी भी पूरी कर ली। इनका छोटा सा घर दस-बारह प्राणियों के लिये छोटा ही था। घर पर पढ़ने की सुविधा नहीं थी। भला बच्चों के घर में कोई चाहे कि अलग बैठकर मन लगाकर पढ़ ले, यह कैसे हो सकता है। कोई रो रहा है, कोई चिल्ला रहा है, कोई गा रहा है, कोई खेल रहा है—सब अपनी अपनी मस्ती में हैं। फिर भला वहाँ पढ़ाई कैसे हो? इनके घर के पास ही थोड़ी दूर पर मोहननाथ की बगिया में इनके एक साथी गङ्गाप्रसाद रहते थे। वहाँ तीन चार बेर के पेड़ थे, एक कुआँ था और एक कच्ची मड़ैया थी। बस जहाँ सवेरा हुआ कि ये लालटेन और पोथी लेकर वहीं पहुँच जाते और पढ़ा करते थे। यह तो नहीं कहा जा सकता कि जितनी पढ़ाई होनी चाहिए थी उतनी होती थी, पर हाँ, घर से तो अधिक ही होती थी। क्योंकि जहाँ दो विद्यार्थी साथ पढ़ते हैं वहाँ आधी गप होती है और आधी पढ़ाई, भर की दर था, फिर तो कोई हानी है। यही बात यहाँ भी थी। मदनमोहन बात करने में तो एक ही थे। इन्हें कोई साथी मिलने भर की देर, कोई भी विषय प्रारम्भ होने के पश्चात् समाप्त कहाँ होता था। रात में वहीं पढ़ते थे और वहीं सोते थे। प्रातःकाल उठकर घर चले आया करते थे।

पर इससे यह न समझिए कि मदनमोहन बड़े पढ़ाकू और पोथी के कीड़े थे। ये बड़े हँसमुख विनोदी और चञ्चल बालक थे। स्कूल से आते ही पोथी कहीं फेंकी, जूते कहीं उतारे, कपड़े कहीं डाले, वह गए, वह गए, वह गए मदनमोहन घर से बाहर। कभी देखो तो गुल्ली डंडा खेल रहे हैं तो किसी दिन कबड्डी हो रही है। व्यायाम भी डटकर किया करते थे और नित्य प्रभात में मुगदर घुमाते या डंड लगाते थे। अपनी वृद्धावस्था में भी वे नियमित व्यायाम करते रहे।

नेतृत्व की शक्ति भी जन्मजात होती है। मदनमोहन का एक गुट था और ये उसके अगुआ थे। स्कूल से लौटते हुए प्रायः किसी न किसी दल से मुठभेड़ हो ही जाती थी। कभी-कभी तो मौखिक युद्ध तक ही बात रह जाती थी, पर यदि कभी बात बढ़ जाती और हाथापाई की नौबत आ जाती तब भी ये पीछे नहीं हटते थे, डटकर लोहा लेते थे। ये ऐसे ब्राह्मण नहीं थे जो मैदान छोड़कर भाग खड़े हों।

होली के दिनों में इनकी धमा चौकड़ी देखते ही बनती थी। महीना पहले से तैयारियाँ होने लगतीं। पिचकारियों में मिट्टी बाँधी जाने लगती, राहचलतों पर किधर से रङ्ग छोड़ा जा सकता है, ये सब बातें साध ली जातीं, स्थान ठीक कर लिए जाते और लालडिग्गी में होली के तीन चार दिन पहले से ही धुआँधार पिचकारियाँ चलने लगतीं, रङ्ग छोड़ा जाने लगता। पिचकारी भरे सब ताक में डटे रहते। वह लो, सामने से पण्डितजी पोथी पत्रा सँभालते चले आ रहे हैं—पिच्च। पण्डितजी तर हो गए। वे बिगड़े पड़ रहे हैं। 'नहा धोकर आए थे, सब भ्रष्ट कर दिया।' इधर ठहाका लगा मररर कबीर भले मानसों का उधर से निकल चलना दूभर था। जो इधर से निकले उसकी दुर्गत ही समझो। बहुत से छैले ढाके का चुन्नटदार कुर्ता और चौगोशिया टोपी देकर ठाट-बाट से सँभलकर निकलते। इधर मदनमोहन और उनका दल पिचकारी साधे ऐसे लोगों की ताक भाग में लगा रहता। बस बात की बात में ऐसी पिचकारियाँ छूट चलतीं कि कोई रँगरेज भी क्या खाकर इतने कौशल से रँगेगा? मजाल क्या कि कोई श्वेतवेषी बिना छींटा खाए वहाँ से, बिना रँगा निकल जाय।

होली की साँझ की चहल-पहल तो कुछ पूछिए मत। मदनमोहन की टोली चौकस होकर

निकल पडती थी। घुटना तक धोती चढ़ाए, कहीं पेड काटे ला रहे हैं तो कहीं भटकटया काट काट-कर होली के लिए चले आ रहे हैं। कहीं से किसी का टूटा मोढ़ा पडा उठाया, कहीं किसी की लकडी पड़ी उठा ली, कहीं चारपाई के टूटे पाए मिले उठा लिए। होली है, भाई ! होली है। मदनमोहन ने ब्रज के मदनमोहन के भी कान काट लिए थे। क्या धूम की होली मचती थी वहाँ !

जन्माष्टमी के उत्सव की तो कुछ बात ही निराली थी। कन्हैया के पालने की सजावट और ठाकुरजी की सजावट का सब भार मदनमोहन पर था। कहीं मालाएँ गूथी जा रही हैं, कहीं छड़िएँ बनाई जा रही हैं। कहीं पालने की सजावट हो रही है तो कहीं झाड फानूस झाडे पोंछे जा रहे हैं। कहीं गानेवालों का प्रबन्ध हो रहा है तो कहीं कथा का। एक नया जीवन, नई चहल पहल चारों ओर दिखाई पडने लगती थी। छठी के दिन तो और भी शोभा चौगुनी बढ जाती थी। चारों ओर मोम बत्तियाँ जगमगाने लगतीं, आँगन और दालानों में गलीचे चाँदनियाँ बिछ जातीं। रातभर गाना बजाना कथा भजन कीर्तन होता, प्रसाद पंजीरी पञ्चामृत बाँटा जाता, उस समय की बात-बात में अनोखापन, काम काम में मस्ती थी। यही उमङ्ग तो बालकों में काम करने की प्रेरणा, नया उत्साह और फुर्ती पैदा करती है और आगे जाकर ऐसे ही चञ्चल, कर्मठ और फुर्तीले बालक बडे काम के निकलते हैं। इसीलिये आज के शिक्षाशास्त्री कार्य कुशलता और चेष्टायुक्त क्रियाओं के द्वारा शिक्षा देना अधिक आवश्यक समझते हैं।

यज्ञोपवीत होने के पश्चात ये सन्ध्यावन्दन और पूजा पाठ में भी बडा मन लगाते थे। इनका एक सन्ध्याकाल भी था, जो सन्ध्या का सामान लेकर नित्य यमुना किनारे पहुँचा करता था। एक दूसरा दल था, जो घूम घूमकर भाषण दिया करता था। बात यह थी कि उन दिनों प्रयाग में एक गिरिजा घर उनके मार्ग में पडता था। स्कूल से लौटते समय ये नित्य देखते कि कुछ पादरी खडे होकर हिन्दू धर्म की बुराई करते और भरपेट गालियाँ देते रहते थे। ये भला ऐसा अत्याचार कब सहन करनेवाले थे। बस इन्होंने भी जहाँ अवसर मिला वहीं सभा समाज, मेले उत्सव में खडे होकर व्याख्यान देना प्रारंभ कर दिया। व्याख्यान सामग्री की इनके पास कोई कमी नहीं थी। अपने पूज्य पिताजी की कथाएँ इन्होंने सुनी ही थीं, फिर क्या था, हिन्दू संस्कारों के बीच में पले हुए तेजस्वी ब्राह्मण को आत्मा भला हिन्दू धर्म की निंदा सुनकर चुप बैठ जाय, यह कैसे हो सकता था। उन्होंने व्याख्यान-दल बनाया, जिसके सभी सदस्य इसी प्रकार हिन्दू धर्म की विशेषताओं पर व्याख्यान देते रहते थे।

जहाँ कोई सेवा का काम पडता वहीं मदनमोहन सबसे आगे दिखाई पडते। मेले-तमाशों में भीड़ का प्रबन्ध करना इन्होंने उसी बालकपन में सीख लिया। एक बार उनके पडोस में व्यासजी के घर आग लग गई। देखते देखते मदनमोहन पहुँचे और ऊपर चढ़ गए। पचास-साठ घडे पानी कुएँ से खींच लाए। उस समय आग बुझाने की कल नहीं थी और नल का प्रबन्ध भी नहीं था। कुआ और घड़ा यही साधन थे। मदनमोहन के प्रयत्न से आग बुझ गई।

सन्ध्या-वन्दन में रुचि तो थी ही, एक बार इन्हें गायत्री मन्त्र जपने की धुन सवार हुई। ये चुपचाप घर से भाग जाते और जमुना किनारे बरगद घाट पर एकासन लगाकर गायत्री मन्त्र जपते। इनकी माताजी को बड़ी चिन्ता हुई। उन्हें यह भय हुआ कि कहीं लड़का साधु सन्यासी न हो जाय। पर मदनमोहन जैसी प्रकृति का बालक साधुओं के अकर्मण्य, नीरस और व्यर्थ जीवन की ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकता था। उनकी माताजी का यह विश्वास हो गया कि उनका भय ठीक नहीं था।

ये पढ़ने में बहुत मन लगाते थे पर गणित में कच्चे थे और संभवतः संसार के सभी महापुरुष गणित में कच्चे रहे हैं, पर परिश्रम करके इन्होंने अपनी यह कमी भी पूरी कर ली। इनका छोटा सा घर दस बारह प्राणियों के लिये छोटा ही था। घर पर पढ़ने की सुविधा नहीं थी। बाल बच्चों के घर में कोई चाहे कि बैठकर मन लगाकर पढ़ ले, यह कैसे हो सकता है। कोई रो रहा है, कोई चिल्ला रहा है, कोई गा रहा है, कोई बोल रहा है—सब अपनी अपनी मस्ती में हैं। फिर भला वहाँ पढ़ाई कैसे हो! इनके घर के पास ही थोड़ी दूर पर मोहनलाल की बगिया में इनके एक साथी गङ्गाप्रसाद रहते थे। वहाँ तीन चार बेर के पेड़ थे, एक कुआँ था और एक कच्ची अटारी थी। बस जहाँ संध्या हुई कि ये लालटेन और पोथी लेकर वहीं पहुँच जाते और पढ़ा करते थे। यह तो नहीं कहा जा सकता कि जितनी पढ़ाई होनी चाहिए थी उतनी होती थी, पर हाँ, गप्पें तो अधिक ही होती थीं। क्योंकि जहाँ दो विद्यार्थी साथ पढ़ते हों वहाँ आपसी गप होती है और आपसी पढ़ाई भर की देर थी, फिर तो कोई होती है। यही बात यहाँ भी थी। मदनमोहन बात करने में तो एक ही थे। इन्हें कोई साथी मिलने भर की देर, कोई भी विषय प्रारम्भ होने के पश्चात् समाप्त नहीं ही होता था। रात में वहीं पढ़ते थे और वहीं सोते थे। प्रातःकाल उठकर घर चले आया करते थे।

पर इससे यह न समझिए कि मदनमोहन बड़े पढ़ाकू और गम्भीर बालक थे। ये बड़े नटखट खिलाड़ी और चञ्चल बालक थे। स्कूल से आते ही पोथी कहीं फेंकी, जूते कहीं उतारे, कपड़े कहीं डाले, यह गए, वह गए, वह गए मदनमोहन घर से बाहर। कभी देखो तो गुल्ली डण्डा खेल रहे हैं, तो किसी दिन कबड्डी हो रही है। व्यायाम भी डटकर किया करते थे और नित्य अखाड़े में मुगदर घुमाते या दण्ड लगाते थे। अपनी वृद्धावस्था में भी वे नियमित व्यायाम करते रहे।

नेतृत्व की शक्ति भी जन्मजात होती है। मदनमोहन का एक गुट था और वे उसके अगुआ थे। स्कूल से लौटते हुए प्रायः किसी न किसी दल से मुठभेड़ हो ही जाती थी। कभी-कभी तो मौखिक युद्ध तक ही बात रह जाती थी, पर यदि कभी बात बढ़ जाती और हाथापाई की नौबत आ जाती तब भी ये पीछे नहीं हटते थे, डटकर लोहा लेते थे। ये उन ब्राह्मणों में नहीं थे जो मैदान छोड़कर भाग खड़े हों।

होली के दिनों में इनकी धमा चौकड़ी देखते ही बनती थी। महीना पहले से तैयारियाँ होने लगतीं। पिचकारियों में मिट्टी बाँधी जाने लगती, राहचलतों पर किधर से रङ्ग छोड़ा जा सकता है, ये सब बातें साध ली जातीं। स्थान ठीक कर लिए जाते और लालडिग्गी में होली के तीन चार दिन पहले से ही घुआँधार पिचकारियाँ चलने लगतीं, रङ्ग छोड़ा जाने लगता। पिचकारी भरे सब ताक में खड़े रहते। वह लो, सामने से पण्डितजी पोथी पत्रा सँभालते चले आ रहे हैं—पिच्च। पण्डितजी तर हो गए। वे बिगड़े पड़ रहे हैं। 'नहा धोकर आए थे, सब भ्रष्ट कर दिया।' इधर ठहाका लगा अररर कबीर भले मानसों का उधर से निकल चलना दूभर था। जो इधर से निकले उसकी दुर्गत ही समझो। बहुत से छैले ढाके का चुनटदार कुर्त्ता और चौगोशिया टोपी देकर ठाट बाट से सँभलकर निकलते। इधर मदनमोहन और उनका दल पिचकारी साधे ऐसे लोगों की ताक भाग में लगा रहता। बस बात की बात में ऐसी पिचकारियाँ छूट चलतीं कि कोई रंगरेज भी क्या खाकर इतने कौशल से रँगेगा? मजाल क्या कि कोई श्वेतवेषी बिना छींटा खाए वहाँ से, बिना रँगा निकल जाए।

होली की साँझ की चहल-पहल तो कुछ पूछिए मत। मदनमोहन की टोली चौकस होकर

निकल पड़ती थीं। घुटना तक धोती चढ़ाए, कहीं पेड़ काटे ला रहे हैं तो कहीं भरकट्या काट काट-कर खींचे लिए चले आ रहे हैं। कहीं से किसी का टूटा मोढा पड़ा उठाया, कहीं किसी की लकड़ी पड़ी उठा ली, कहीं चारपाई के टूटे पाए मिले उठा लिए। होली है, भाई! होली है। मदनमोहन ने ब्रज के मदनमोहन के भी कान काट लिए थे। क्या धूम की होली मचती थी वहाँ!

जन्माष्टमी के उत्सव की तो कुछ बात ही निराली थी। कन्हैया के पालने की सजावट और ठाकुरजी की सजावट का सब भार मदनमोहन पर था। कहीं मालाएँ गूँथी जा रही हैं, कहीं छड़िएँ बनाई जा रही हैं। कहीं पालने की सजावट हो रही है तो कहीं झाड़-फानूस झाड़े पोंछे जा रहे हैं। कहीं गानेवालों का प्रबन्ध हो रहा है तो कहीं कथा का। एक नया जीवन, नई चहल पहल चारों ओर दिखाई पड़ने लगती थी। छठी के दिन तो और भी शोभा चौगुनी बढ़ जाती थी। चारों ओर मोम बत्तियाँ जगमगाने लगतीं, आँगन और दालानों में गलीचे चाँदनियाँ बिछ जातीं। रातभर गाना बजाना कथा भजन कीर्तन होता, प्रसाद पंजीरी पञ्चामृत बाँटा जाता, उस समय की बात-बात में अनोखापन, काम काम में मस्ती थी। यही उमङ्ग तो बालकों में काम करने की प्रेरणा, नया उत्साह और फुर्ती पैदा करती है और आगे जाकर ऐसे ही चञ्चल, कमठ और फुर्तीले बालक बड़े काम के निकलते हैं। इसीलिये आज के शिक्षाशास्त्री काय कुशलता और चेष्टायुक्त क्रियाओं के द्वारा शिक्षा देना अधिक आवश्यक समझते हैं।

यज्ञोपवीत होने के पश्चात ये सन्ध्यावन्दन और पूजा पाठ में भी बड़ा मन लगाते थे। इनका एक सन्ध्यादल भी था, जो सन्ध्या का सामान लेकर नित्य यमुना किनारे पहुँचा करता था। एक दूसरा दल था, जो घूम घूमकर भाषण दिया करता था। बात यह थी कि उन दिनों प्रयाग में एक गिरिजा घर उनके मार्ग में पड़ता था। स्कूल से लौटते समय ये नित्य देखते कि कुछ पादरी खड़े होकर हिन्दू-धर्म की बुराई करते और भरपेट गालियाँ देते रहते थे। ये भला ऐसा अत्याचार कब सहन करनेवाले थे। बस इन्होंने भी जहाँ अवसर मिला वहाँ सभा समाज, मेले उत्सव में खड़े होकर व्याख्यान देना आरम्भ कर दिया। व्याख्यान सामग्री की इनके पास कोई कमी नहीं थी। अपने पूज्य पिताजी की कथाएँ इन्होंने सुनी ही थी, फिर क्या था, हिन्दू संस्कारों के बीच में पले हुए तेजस्वी ब्राह्मण को भला हिन्दू धर्म की निन्दा सुनकर चुप बैठ जाय, यह कैसे हो सकता था। उन्होंने व्याख्यान-दल बनाया, जिसके सभी सदस्य इसी प्रकार हिन्दू धर्म की विशेषताओं पर व्याख्यान देने रहते थे।

जहाँ कोई सेवा का काम पड़ता वहाँ मदनमोहन सबसे आगे दिखाई पड़ते। मेले-तमाशों में भीड़ का प्रबन्ध करना इन्होंने उसी बालकपन में सीख लिया। एक बार उनके पड़ोस में व्यासजी के घर आग लग गई। देखते देखते मदनमोहन पहुँचे और ऊपर चढ़ गए। पचास-साठ घड़े पानी कुएँ से खींच लाए। उस समय आग बुझाने की कल नहीं थी और नल का प्रबन्ध भी नहीं था। कुआँ और घड़ा यही साधन थे। मदनमोहन के प्रयत्न से आग बुझ गई।

सन्ध्या-वन्दन में रुचि तो थी ही, एक बार इन्हें गायत्री मन्त्र जपने की धुन सवार हुई। ये चुपचाप घर से भाग जाते और जमुना किनारे बरगद घाट पर एकासन लगाकर गायत्री मन्त्र जपते। इनकी माताजी को बड़ी चिन्ता हुई। उन्हें यह भय हुआ कि कहीं लड़का साधु संन्यासी न हो जाय। पर मदनमोहन जैसी प्रकृति का बालक साधुओं के अकमण्य, नीरस और व्यर्थ जीवन की ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकता था। उनकी माताजी का यह विश्वास हो गया कि उनका भय ठीक नहीं था।

ये पढ़ने में बहुत कम ध्यान देते [illegible] में करते थे और [illegible] के [illegible] गणित में कच्चे रहे हैं, पर [illegible] करके [illegible] कभी भी पूरी कर लो। [illegible] पर दस-बारह प्राणि[illegible] के [illegible] ही था। पर पर पढ़ने को सुविधा नहीं थी। [illegible] के घर में कोई चाहे कि [illegible] मन लगाकर पढ़ ले, यह कैसे हो सकता है। कोई रो रहा है कोई चिल्ला रहा है कोई [illegible] है—[illegible] है। फिर भला भला यहाँ पढ़ाई कैसे हो। इनके घर के पास ही [illegible] को बगिया में इनके [illegible] साथी [illegible] रहते थे। वहीं [illegible] बेर के पेड़ के नीचे एक कुआँ था और [illegible] थी। [illegible] कि ये [illegible] और [illegible] यहीं [illegible] करते थे। [illegible] नहीं कहा जा सकता कि [illegible] ही होता थी। [illegible] विद्यार्थी साथ पढ़ते हों वहाँ साथी [illegible] होती है और [illegible] भर की देर था, फिर तो कोई [illegible] है। [illegible] बात यहाँ भी थी। [illegible] एक हो गये। [illegible] कोई साथी [illegible] भर की दर कोई भी [illegible] होने के [illegible] जाता था। रात में यहीं पढ़ते थे और [illegible] थे। [illegible] करते थे।

पर [illegible] कि [illegible] पहाड़ और [illegible] के [illegible] थे। [illegible] विनोदी और [illegible] थे। स्कूल से [illegible] [illegible] बढ़ गए, [illegible] बाहर। [illegible] है तो [illegible] हो रही है। व्यायाम भी [illegible] करते थे और [illegible] घुमाने का [illegible] थे। [illegible] अवस्था में भी [illegible] व्यायाम करते रहे।

[illegible] का शक्ति भी [illegible] होती है। [illegible] की [illegible] और [illegible] थे। स्कूल से लौटते हुए प्रायः किसी न किसी [illegible] हो ही जाती थी। कभी-कभी तो मौखिक युद्ध तक ही बात रह जाती थी, पर यदि कभी बात बढ़ जाती और हाथापाई की नौबत आ जाती तब भी ये पीछे नहीं हटते थे। डटकर लोहा लेते थे। [illegible] भाग गए हों।

होली के दिनों में इनकी मंडली खूब ही जमती थी। [illegible] तैयारियाँ होने लगती। पिचकारियों में मिट्टी बाँधी जाने लगती, [illegible] पर किधर से रंग छोड़ा जा सकता है ये सब बातें सोच ली जातीं, स्थान ठीक कर लिए जाते और सावधानी से होली के तीन चार दिन पहले से ही धुआँधार पिचकारियाँ चलने लगतीं, रंग छोड़ा जाने लगता। पिचकारी भर सब ताक में खड़े रहते। वह लो, सामने से पण्डितजी पानी-पत्ता संभालते चले आ रहे हैं—पिच्च! पण्डितजी तर हो गए। वे बिगड़ पड़ रहे हैं। 'नहा धोकर आए थ, सब भ्रष्ट कर दिया'। इधर ठहाका लगा ररररर कबीर भले मानसों का उधर से निकल चलना दूभर था। जो इधर से निकले उसकी दुर्गत ही समझो। बहुत से छैले ढाके का चुन्नटदार कुर्ता और चौगोशिया टोपी देकर ठाट-बाट से सम्भलकर निकलते। इधर मन्नमोहन और उनका दल पिचकारी साधे ऐसे लोगों की ताक भाग में लगा रहता। बस बात की बात में ऐसी पिचकारियाँ छूट चलतीं कि कोई रंगरेज भी क्या खाकर इतने कौशल से रँगेगा? मजाल क्या कि कोई श्वेतवेषी बिना छींटा खाए वहाँ से, बिना रंगा निकल जाए।

होली की साँझ की चहल-पहल तो कुछ पूछिए मत। मन्नमोहन की टोली चौगम होकर

निकल पड़ती थी। घुटना तक धोती चढ़ाए, कहीं पेड़ काटे ला रहे हैं तो कहीं भटकटैया काट काट कर खींचे लिए चले आ रहे हैं। कहीं से किसी का टूटा मोढ़ा पड़ा उठाया, कहीं किसी की लकड़ी पड़ी उठा ली, कहीं चारपाई के टूटे पाए मिले उठा लिए। होली है, भाई! होली है! मदनमोहन ने ब्रज के मदनमोहन के भी कान काट लिए थे! क्या धूम की होली मचती थी वहाँ!

जन्माष्टमी के उत्सव की तो कुछ बात ही निराली थी। कन्हैया के पालने की सजावट और ठाकुरजी की सजावट का सब भार मदनमोहन पर था। कहीं मालाएँ गूँथी जा रही हैं, कहीं छड़िएँ बनाई जा रही हैं। कहीं पालने की सजावट हो रही है तो कहीं झाड़ फानूस झाड़ पोंछे जा रहे हैं। कहीं गानेवालों का प्रबन्ध हो रहा है तो कहीं कथा का। एक नया जीवन, नई चहल पहल चारों ओर दिखाई पड़ने लगती थी। छठी के दिन तो और भी शोभा चौगुनी बढ़ जाती थी। चारों ओर मोम बत्तियाँ जगमगाने लगतीं, आँगन और दालानों में गलीचे चाँदनियाँ बिछ जातीं। रातभर गाना बजाना कथा भजन कीर्तन होता, प्रसाद पंजीरी पञ्चामृत बाँटा जाता, उस समय की बात-बात में मनोरंजन, काम-काम में मस्ती थी। यही उमङ्ग तो बालकों में काम करने की प्रेरणा, नया उत्साह और फुर्ती पैदा करती है और आगे जाकर ऐसे ही चञ्चल, कमठ और फुर्तीले बालक बड़े काम के निकलते हैं। इसीलिये आज के शिक्षाशास्त्री कार्य कुशलता और चेष्टायुक्त क्रियाओं के द्वारा शिक्षा देना अधिक आवश्यक समझते हैं।

यज्ञोपवीत होने के पश्चात ये सन्ध्यावन्दन और पूजा पाठ में भी बड़ा मन लगाते थे। इनका एक सन्ध्यादल भी था, जो सन्ध्या का सामान लेकर नित्य यमुना किनारे पहुँचा करता था। एक दूसरा दल था, जो घूम घूमकर भाषण दिया करता था। बात यह थी कि उन दिनों प्रयाग में एक गिरिजा घर उनके मार्ग में पड़ता था। स्कूल से लौटते समय ये नित्य देखते कि कुछ पादरी खड़े होकर हिन्दू धर्म की बुराई करते और भरपेट गालियाँ देते रहते थे। ये भला ऐसा अत्याचार कब सहन करनेवाले थे। बस इन्होंने भी जहाँ अवसर मिला वहाँ सभा समाज, मेले उत्सव में खड़े होकर व्याख्यान देना प्रारम्भ कर दिया। व्याख्यान सामग्री की इनके पास कोई कमी नहीं थी। अपने पूज्य पिताजी की कथाएँ इन्होंने सुनी ही थीं, फिर क्या था, हिन्दू संस्कारों के बीच में पले हुए तेजस्वी ब्राह्मण को भला हिन्दू धर्म की निन्दा सुनकर चुप बैठ जाय, यह कैसे हो सकता था। उन्होंने व्याख्यान-दल बनाया, जिसके सभी सदस्य इसी प्रकार हिन्दू धर्म की विशेषताओं पर व्याख्यान देते रहते थे।

जहाँ कोई सेवा का काम पड़ता वहाँ मदनमोहन सबसे आगे दिखाई पड़ते। मेले-तमाशे में भीड़ का प्रबन्ध करना इन्होंने उसी बालकपन में सीख लिया। एक बार उनके पड़ोस में व्यासजी के घर आग लग गई। देखते देखते मदनमोहन पहुँचे और ऊपर चढ़ गए। पचास-साठ घड़े पानी कुएँ से खींच लाए। उस समय आग बुझाने की कल नहीं थी और नल का प्रबन्ध भी नहीं था। कुआँ और घड़ा यही साधन थे। मदनमोहन के प्रयत्न से आग बुझ गई।

सन्ध्या-वन्दन में रुचि तो थी ही, एक बार इन्हें गायत्री मन्त्र जपने की धुन सवार हुई। ये चुपचाप घर से भाग जाते और जमुना किनारे बरगद घाट पर एकासन लगाकर गायत्री मन्त्र जपते। इनकी माताजी को बड़ी चिन्ता हुई। उन्हें यह भय हुआ कि कहीं लड़का साधु संन्यासी न हो जाय। पर मदनमोहन जैसी प्रकृति का बालक साधुओं के अकर्मण्य, नीरस और व्यर्थ जीवन की ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकता था। उनकी माताजी का यह विश्वास हो गया कि उनका भय ठीक नहीं था।

एक पग आगे

विवाह

आज-कल की सुधारक मण्डली यदि सुन पावे कि किसी का विवाह छोटी अवस्था में ही हो गया तो वह आपे से बाहर हो जाय और भारत की दरिद्रता और पराधीनता के सब कारण वह उसी विवाह में ढूंढने लगे पर भगवान् ने जिसे कृपा करके थोड़ी भी बुद्धि दी है वह यह अवश्य समझ सकेगा कि पहले भले ही बालकपन में विवाह हो जाते थे, पर घर का संयम इतना कठोर होता था कि उसका परिणाम बुरा नहीं होने पाता था। आज-कल हम लोग पच्चीस वर्ष की अवस्था में विवाह कराने का उपदेश तो देते हैं, पर पच्चीस वर्ष तक अपने को तेजस्वी ब्रह्मचारी बनाये रखने के साधन और उसकी शिक्षा की क्या व्यवस्था करते हैं। उलटे हम लोगों ने सहशिक्षा, सिनेमा, सांस्कृतिक कार्यक्रम के नाम नाच-गान ऐसी अनेक प्रवृत्तियों का जाल बिछा दिया है कि जो अपने पारंपरिक संस्कार के कारण शुद्धमना रहने का प्रयत्न करना चाहे वह भी नाद-मुग्ध मृग के समान जाल में फँसकर अपना शरीर, संस्कार, मन और आत्मा सबको कलुषित कर बैठे। फल यह हुआ है कि विवाह भले ही देर में होने लगे हों, पर विवाह के समय हमारे नौजवान मित्रों के चेहरों से जवानी हवा हो जाती है और अनेक रोग आ जाते हैं। मनस्तत्त्व के सिद्धान्त का कहना है कि मनुष्य की इच्छा-पूर्ति में जब बाधा पड़ती है तब उसकी प्रतिक्रिया बड़ी भयंकर होती है और उसी के फलस्वरूप वह पागल होता, असामाजिक कार्य करता, रोग-ग्रस्त होता या आत्महत्या कर बैठता है। किन्तु यदि उस इच्छा को उचित धारा में मोड़ दिया जाय तो वह इच्छा लोक-कल्याणकारी उदात्त वृत्ति का स्वरूप धारण कर लेती है। इसी आधार पर हमारे बड़े लोग बालकों का विवाह किशोर और कुमारावस्था के सन्धिकाल में कर देते थे जिससे उनकी स्नेह धारा एक ही मार्ग पर मुड़ चले, इधर उधर फँसकर विकृत होने से बच जाय।

मदनमोहन के विवाह की भी बड़ी विचित्र कथा है। वे चौदह-पन्द्रह वर्ष के रहे होंगे—सुन्दर इकहरे बदन के—अभी मसें भी न भीगी थीं। काली-काली चमकदार आँखें थीं और खञ्जन के समान चपल प्रभा से ऐसा प्रतीत होता था मानो बस अब उड़ने ही वाले हों। इनके चाचा पण्डित जयधरप्रसादजी मिर्ज़ापुर के गवर्नमेण्ट हाई स्कूल में हेड पण्डित थे। वे साहित्य के धुरन्धर विद्वान, मृदुभाषी और हँसमुख थे। मदनमोहन प्रायः उनके पास आया जाया करते थे। एक बार मिर्ज़ापुर में पण्डितों की सभा हो रही थी। आस पास के बहुत से पण्डित एकत्र हुए थे। किसी विषय पर शास्त्रार्थ हो रहा था। मदनमोहन भी उसी सभा में बैठे हुए थे। बहुत देर तक सुनते रहे फिर उनको भी कुछ बोलने की इच्छा हुई। जिसे जनता के बीच में बोलने का साहस खुल गया हो वह भला चुप कैसे रह सकता है। मदनमोहन खड़े होकर बोलने लगे। कैसी भाषा थी, मानो फूल बरस रहे हों। कितना साधुवाद हुआ। जिसने सुना उसने बरबस मदनमोहन की पीठ ठोंकी। उसी सभा में मिर्ज़ापुर के माननीय ब्राह्मण पण्डित नन्दराम भी बैठे हुए थे। पण्डित नन्दराम जी की तीन

मदनमोहन को सङ्गीत से बड़ा प्रेम था। यह विद्या तो इनकी निजी निधि (पारिवारिक कला) ही थी। पिताजी की बाँसुरी सुनी ही थी। मधुर स्वर बगौनी में ही मिला था। इनके परिवार में स्यात ही कोई ऐसा बालक हो जिसे सङ्गीत में रुचि न हो। इन्होंने सितार बजाना सीखा और बहुत ही अच्छा सितार बजाने लगे। सङ्गीत प्रेमी हुए मनुष्य की उदात्त प्रवृत्तियाँ निष्क्रिय भी तो नहीं होतीं। सच पूछिए तो सहानुभूति, समवेदना और दूसरे की व्यथा का अनुभव उसे ही हो सकता है जिसने एक बार तन्त्री के कोमल करुण स्वरों का आनन्द लिया हो। इसी सङ्गीत प्रेम के साथ ये अपने पिताजी से सूर के पद भी गाते सुनते थे। अतः, कविता की ओर इनकी रुचि बढ़ चली जिसके फलस्वरूप इन्होंने सितार के साथ बजाने-गाने के लिए सूर मीरा तथा अन्य कवियों के चुने हुए पदों का सुन्दर संग्रह संकलित कर लिया था।

इस प्रकार शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों से ओतप्रोत होकर वे समाज तथा देश के विस्तृत अखाड़े में आ कूदे, जिसमें उन्होंने ऐसे अद्भुत कौशल दिखाए कि बड़े-बड़े अखाड़िये भी पछाड़ खा गए और कितने पुराने सरदार भी जान से इस नये जवान का लोहा मानने लगे। नई उमङ्गें, नया उत्साह और नई आशाओं की उँगली थामकर मदनमोहन ऊपर को बढ़ने लगे और इतने ऊपर तक बढ़ते चले गए कि उन तक पहुँचने की बात तो दूर रही उनकी ऊँचाई की कल्पना करना भी आश्चर्य की बात थी। मदनमोहन का कार्य क्षेत्र अब बढ़ने लगा।



एक पग आगे

विवाह

आज-कल की सुधारक मण्डली यदि सुन पावे कि किसी का विवाह छोटी अवस्था में ही हो गया तो वह आपे से बाहर हो जाय और भारत की दरिद्रता और पराधीनता के सब कारण वह उसी विवाह में ढूँढने लगे पर भगवान ने जिसे कृपा करके थोड़ी भी बुद्धि दी है वह यह अवश्य समझ सकेगा कि पहले भले ही बालकपन में विवाह हो जाते थे, पर घर का संयम इतना कठोर होता था कि उसका परिणाम बुरा नहीं होने पाता था। आज कल हम लोग पच्चीस वर्ष की अवस्था में विवाह कराने का उपदेश तो देते हैं, पर पच्चीस वर्ष तक अपने को तेजस्वी ब्रह्मचारी बनाये रखने के साधन और उसकी शिक्षा की क्या व्यवस्था करते हैं। उलटे हम लोगों ने सहशिक्षा, सिनेमा, सांस्कृतिक कार्यक्रम के नाम नाच गान ऐसी अनेक प्रवृत्तियों का जाल बिछा दिया है कि जो अपने पारंपरिक संस्कार के कारण शुद्धमना रहने का प्रयत्न करना चाहे वह भी नाद-मुग्ध मृग के समान जाल में फँसकर अपना शरीर, संस्कार, मन और आत्मा सबको कलुषित कर बैठे। फल यह हुआ है कि विवाह भले ही देर में होने लगे हों, पर विवाह के समय हमारे नौजवान मित्रों के चेहरे से जवानी हवा हो जाती है और अनेक रोग आ जाते हैं। मनस्तत्त्व के विद्वानों का कहना है कि मनुष्य की इच्छा-पूर्ति में जब बाधा पड़ती है तब उसकी प्रतिक्रिया बड़ी भयंकर होती है और उसी के फलस्वरूप वह पागल होता, असामाजिक कार्य करता, रोग-ग्रस्त होता या आत्महत्या कर बैठता है। किन्तु यदि उस इच्छा को उचित धारा में मोड़ दिया जाय तो वह इच्छा लोक-कल्याणकारी उदात्त वृत्ति का स्वरूप धारण कर लेती है। इसी आधार पर हमारे बड़े लोग बालकों का विवाह किशोर और युवावस्था के सन्धिकाल में कर देते थे जिससे उनकी स्नेह धारा एक ही मार्ग पर मुड़ चले, इधर उधर फैलकर विकृत होने से बच जाय।

मदनमोहन के विवाह की भी बड़ी विचित्र कथा है। वे चौदह पन्द्रह वर्ष के रहे होंगे—सुन्दर इकहरे बदन के—अभी मसें भी न भीगी थीं। कानी-काली चमकदार आँखें थीं और खञ्जन के समान चपल प्रभा से ऐसा प्रतीत होता था मानो बस अब उड़ने ही वाले हों। इनके चाचा पण्डित गदाधरप्रसादजी मिर्जापुर के गवर्नमेण्ट हाई स्कूल में हेड पण्डित थे। वे साहित्य के धुरन्धर विद्वान, मृदुभाषी और हँसमुख थे। मदनमोहन प्रायः उनके पास आया जाया करते थे। एक बार मिर्जापुर में पण्डितों की सभा हो रही थी। आस पास के बहुत से पण्डित एकत्र हुए थे। किसी विषय पर शास्त्रार्थ हो रहा था। मदनमोहन भी उसी सभा में बैठे हुए थे। बहुत देर तक सुनते रहे फिर उनकी भी कुछ बोलने की इच्छा हुई। जिसे जनता के बीच में बोलने का साहस खुल गया हो वह भला चुप कैसे रह सकता है। मदनमोहन खड़े होकर बोलने लगे। कैसी भाषा थी, मानो फूल बरस रहे हों। कितना साधुवाद हुआ। जिसने सुना उसीने बालक मदनमोहन की पीठ ठोंकी। उसी सभा में मिर्जापुर के मालवीय ब्राह्मण पण्डित नन्दराम भी बैठे हुए थे। [redacted] नन्दराम जी को तीन

पुत्रियाँ थीं। दो का विवाह हो चुका था। सबसे छोटी कुन्दन (कुन्दन) देवी रह गई थीं। उन्होंने मदनमोहन को अपना जमाता बनाने का सङ्कल्प कर लिया। बातचीत निश्चय हो गई। इस बातचीत के दो-तीन वर्ष पीछे सन १८८१ ई० में मदनमोहन का विवाह हो गया। मदनमोहन के श्वसुर होने का सौभाग्य उन्हीं को मिला। मदनमोहन उस समय कौलेज में पढ़ रहे थे।

स्कूल और कौलेज

हमारा आज का उत्तरप्रदेश उस समय उत्तर पश्चिमी प्रांत तथा अवध कहलाता था। तब तक प्रयाग विश्वविद्यालय सूत्रपात नहीं हुआ था। इस प्रांत की एण्ट्रेन्स परीक्षा का सम्बन्ध कलकत्ता विश्वविद्यालय से था। इलाहाबाद जिला स्कूल अपने स्थान से उठकर मलाका पर चला गया और गवनमेण्ट हाई स्कूल हो गया। दूर होने के कारण अब तो मदनमोहन को प्राय नित्य ही देर होने लगी। सन् १८७६ ई० में अट्ठारह वर्ष की अवस्था में मदनमोहन ने एण्ट्रेंस परीक्षा उत्तीर्ण कर ली।

एण्ट्रेंस परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात मदनमोहन का विचार हुआ कि कौलेज में पढ़ा जाय, पर दरिद्रता मुंह बाए सामने खड़ी थी। किन्तु ब्रजनाथजी ने साहस न खोया। मदनमोहन ने म्योर सेण्टल कौलेज में नाम लिखा लिया। उस समय म्योर सेण्ट्रल कौलेज प्रयाग की पब्लिक लाइब्रेरी के उत्तर स्थित दरभङ्गा कासिल में लगता था। वह सरकारी कौलेज था और उसके प्रिंसिपल बड़े प्रसिद्ध विद्वान् श्री हैरिसन थे।

कौलेज में पहुँचने पर मदनमोहन के गुणों का तो विकास हुआ ही साथ ही उनका कार्यक्षेत्र भी बढ़ चला। प्रिंसिपल हैरिसन् पर इनके देशानुराग, पवित्र जीवन, धीरता और निर्भीकता का बड़ा प्रभाव पड़ा और वे इन्हें बहुत मानने लगे।

प्रयाग में उन दिनों एक आर्य्य-नाटक मण्डली थी जिसमें नगर के प्राय सभी प्रमुख नागरिक सदस्य थे। स्वर्गीय सर सुन्दरलाल भी उन दिनों इसके सदस्य थे। एक बार उस मण्डली ने शकुन्तला नाटक खेला। बड़ी भीड़ हुई। संस्कृत के पण्डितों में एक कहावत प्रचलित है—

काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्रश्लोकचतुष्टयम्॥

कि 'काव्यों में नाटक सबसे श्रेष्ठ है। नाटकों में महाकवि कालिदास का अभिज्ञान शाकुन्तल (शकुन्तला) नाटक सर्वश्रेष्ठ है —इत्यादि। नाट्य संसार के सर्वश्रेष्ठ नाटक की प्रधान नायिका महाकवि कालिदास की सर्वश्रेष्ठ कृति शकुन्तला का अभिनय करना कोई हँसी ठट्ठा नहीं है पर आर्य्य नाटक मण्डलीवाला ने वहाँ के नाच घर में शकुन्तला नाटक खेल ही डाला। घण्टी बजी परदा उठा। अनसूया और प्रियम्वदा के साथ जल की गगरी हाथ में लिए हुए शकुन्तला आई। वह हाव भाव बस देखने ही योग्य था। आदि से अन्त तक शृङ्गार और करुणा की उस महानदी में तैरकर जब दर्शकगण बाहर निकले तो सबकी जिह्वा पर एक ही बात थी—'शकुन्तला का अभिनय अद्वितीय हुआ है। ऐसी सुन्दरता से वह अभिनय किया गया था कि सबकी कल्पना में कई दिन तक 'शकुन्तला' विराजमान रही। वह अभिनय किसने किया था—यह कोई पहेली, कोई रहस्य की बात नहीं थी। सब लोग जानते थे—उन्हीं ब्रजनाथजी के पुत्र मदनमोहन ने।

इसी प्रकार एक बार कौलेज में 'मर्चेण्ट औफ वेनिस' नामक अंगरेजी नाटक खेला गया। जिसमें पोर्शिया की भूमिका मदनमोहन को मिली। उस नाटक के देखनेवालों का कहना है कि यदि कोई अंगरेजी महिला भी उस भूमिका का अभिनय करती तो सम्भवतः इतनी सुन्दरता के साथ

न कर पाती। जिस समय उस पोर्शिया ने दया के गुणों का वर्णन करना प्रारंभ किया तो जान पड़ा कि आकाश से दया के अमृत की वर्षा हो रही है और सारा संसार उस अमृत की एक एक बूंद पाने के लिए तरस रहा है और पाकर तृप्त हो रहा है। मदनमोहन उस समय कौलेज में पढ़ रहे थे।

मदनमोहन ने कौलेज में एक डिबेटिङ्ग सोसाइटी (वादविवाद समिति) स्थापित कर रक्खी थी, जिसमें इनके मित्रगण आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक विषयों पर वाद विवाद करते रहते थे। सभी लोगों में इनके समान लगन नहीं थी, पर ये बलपूर्वक सबको पकड़-पकड़कर खींच खींचकर ले ही जाया करते थे।

मदनमोहन का कौलेज् का वेश भी वही था जो आज है। वही साफा, वही दुपट्टा, वही अचकन और वही संकरी मोहड़ी का पाजामा या धोती। गरमी के दिनों में सन्दली दुपट्टे से इन्हें बड़ा प्रेम था जो विशेषतः उन्हीं के लिए मंगवाया जाता था। हाथ में सदा पहाड़ी डण्डा रहता और पैरों में कभी वार्निशदार जोड़े, कभी नागरा। इनके साफे की कथा भी कम मनोरञ्जक नहीं है। पहले तो ये साधारण इलाहाबादी चौगोशिया टोपी लगाते और अङ्गा पहनते थे। किन्तु बनारस के महाराजा के कर्मचारी मिर्ज़ापुर के मल्लई पण्डित दुर्गाप्रसाद की सफेद पगड़ी इन्हें ऐसी जँची कि तभी से इन्होंने भी उसी प्रकार की पगड़ी बाँधनी प्रारम्भ कर दी। उनकी देखा देखी अब तो बहुत लोग उस मार्ग के पथिक बन गए हैं और वैसी पगड़ी बाँधने लगे हैं।

गुरु से भेंट

मदनमोहन की सर्वतोमुखी शक्ति ने उन्हें पाठ्य-पुस्तकों और कौलेज् की चारदीवारी में ही बन्दी न रहने दिया। जिसका हृदय विशाल हो जाता है और जो अपना सङ्कुचित क्षेत्र छोड़कर सारे संसार से नाता जोड़ लेता है, जिसके सुख-दुःख एक व्यक्ति के नहीं, वरन सारे संसार के प्राणियों के सुख-दुःख में ओत प्रोत हो जाते हैं, वह फिर कौलेज् की छोटी-सी परिधि के भीतर कैसे बँधा रह सकता है। सौभाग्य से उन दिनों म्योर सेण्ट्रल कौलेज् में महामहोपाध्याय पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्यजी संस्कृत के प्राध्यापक थे। मदनमोहन संस्कृत तो पढ़े हुए थे ही, यहाँ आकर उन्हें पण्डित आदित्यराम जी से पढ़ने का अवसर मिला। पारस का छूते ही वे सोना बन गए। पण्डित आदित्यरामजी आदर्श गुरु थे। उन्होंने अपने शिष्य मदनमोहन को भली भाँति परख लिया। उन्होंने समझ लिया कि इस मदनमोहन के स्वरूप में अवश्य ही कोई महापुरुष छिपा बैठा है। उन्होंने मदनमोहन को उत्साहित करना आरम्भ कर दिया और थोड़े ही समय में गुरु शिष्य में इतना अधिक स्नेह बढ़ गया कि पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य केवल कौलेज् के गुरु ही नहीं रह गए, वरन वे इनके वास्तविक पथ प्रदर्शक गुरु बन गए और सच बात तो यह है कि महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय के बनाने में पण्डित आदित्यरामजी भट्टाचार्य का कुछ कम हाथ नहीं था।

हिन्दू समाज में सेवा कार्य

सन् १८८० ई० में प्रयाग के अहियापुर टोले के पास ही पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्यजी के प्रयास से ही मुंशी काशीप्रसाद वकील के भवन में ही हिन्दू समाज की स्थापना हुई और यही उसकी बैठकें होने लगीं। मदनमोहन ही इस समाज के प्रधान कार्य-कर्त्ता थे। जब किसी बात में कोई अड़चन पड़ता कि मदनमोहन झट इस कौशल से उसे सुलझाते कि बड़े-बड़े लोग दङ्ग रह जाते। मदनमोहन की इस कुशलता से कुछ लोग ईर्ष्यावश मन ही मन चिढ़ते भी थे कि यह कल का छोकरा

अभी से बडे बडो का कान काटने लगा है। इनके तत्परतापूर्ण कौशल को लोग 'छोटे मुह बड़ी बात' समझते थे पर ये भी अपने अभ्यास से विवश थे। क्या करते? किसी न किसी प्रकार काम तो करना ही था। निर्भय होकर ये अपने मार्ग पर चले जाते थे, किसी के कहने सुनने पर कभी कान नहीं देते थे। इनकी व्यापक सफलता का कारण सम्भवतः यह भी एक रहा है। पण्डित प्रयागदत्तनाथ जी तथा पण्डित विश्वम्भरनाथजी जैसे देश हितैषी नेताओं से मदनमोहन का सम्पर्क इन्हीं दिनों हुआ।

केन्द्रीय हिन्दू समाज की स्थापना

'हिन्दू समाज' में हिन्दुओं को ऊपर उठाने, अपने बल पर खड़ा होने और अपने विरोधियों से डटकर लोहा लेने का पाठ व्याख्यानों और वाद विवादों द्वारा हो रहा था। इधर मदनमोहन ने उसी के साथ सन १८८४ ई० में 'केन्द्रीय हिन्दू समाज' नाम से प्रयाग में एक सभा स्थापित की, जिसका उत्सव यमुना-तट पर महाराजा बनारस की भव्य कोठी में मदनमोहन के उद्योग से दशहरे पर इतनी धूम धाम से किया गया कि दूर दूर से उत्तरी भारत के बड़े-बड़े विद्वान उसमें पधारे और हिन्दू धर्म तथा समाज को सुसंगठित करने के अनेक उपायों पर गम्भीरतापूर्वक विचार भी किया गया। तीन दिन तक होने वाले इस उत्सव की चहल पहल किसी भी राजनीतिक महोत्सव से कम न थी। इस अधिवेशन के अध्यक्ष धराधिपति वध्यावप्रवर श्री महावीरप्रसादजी चुने गए थे। पण्डित लक्ष्मीनारायण व्यास वैद्य के प्रस्ताव से उन्होंने सभापति का आसन ग्रहण किया। उसी उत्सव में विलायत से तत्काल लौटे हुए कालाकांकर-नरेश स्व० राजा रामपाल सिंह भी पधारे थे। वे बीच बीच में उठकर सभापति के काम में इस प्रकार बाधा देने और बोलने लगते कि मदनमोहन को बड़ा खटकता था। वे ही नहीं और भी बहुत से लोग उनके इस व्यवहार से बड़े असन्तुष्ट थे पर राजा साहब का नाम बड़ा था और उन्हें रोकने का प्रयत्न करना सचमुच बड़े साहस का काम था। पर मदनमोहन इसे देर तक न सहन कर सके। जब कभी राजा साहब ऐसा करते तो वे खड़े होकर राजा साहब के कान में कुछ कहकर टाल देते थे। राजा साहब सुन तो लेते थे पर मुस्कराकर टाल जाते थे।

उत्सव समाप्त होने पर राजा साहब ने अपने 'हिन्दुस्तान' नामक पत्र में भव्य हिन्दू-समाज के इस अधिवेशन की प्रशंसा तो बहुत की पर साथ ही यह भी लिखा कि—"उसमें दो एक लौंडे ऐसे ढीठ थे कि बड़े-बड़े राजा रईसों और वावदूकों (वक्ताओं) को व्याख्यान देते समय उनके कान में सलाह देने की धृष्टता करते थे।"

मदनमोहन से राजा साहब चिढ़ तो बहुत गए थे, पर उनका यह ताप बहुत दिन न टिक सका क्योंकि राजा रामपाल सिंह बड़े गुणग्राही पुरुष थे। इसलिए इसके थोड़े ही दिनों पीछे मदन मोहन से राजा साहब मिले और उन्हें अपने पत्र 'हिन्दुस्तान' का सम्पादक बना दिया।

सन १८६१ ई० तक प्रतिवर्ष नियमित रूप से केन्द्रीय हिन्दू समाज के महोत्सव होते रहे जिनमें लोक कल्याण और देशहित के अनेक विषयों पर बहुत कुछ कहा सुना और सोचा विचारा गया।

लिटरेरी इन्स्टिट्यूट (साहित्य समाज की स्थापना)

इसी हिन्दू समाज के साथ साथ इन्होंने लिटरेरी इन्स्टिट्यूट (साहित्य समाज) की स्थापना की, जिसका उद्देश्य था साहित्यिक विषयों पर चर्चा करना, काव्य और साहित्य के गुण दोषों पर बातचीत करना, अपना साहित्य भाण्डार भरने का प्रयत्न करना और जैसे बन वैसे समाज में साहित्य का प्रचार करना जिससे लोगों में अपने राष्ट्रीय साहित्य का भी ज्ञान हो, साथ ही दूसरे साहित्यों का भी ज्ञान होता चले।

बोलने का रोग

मदनमोहन को बोलने का रोग प्रारम्भ से ही था। यद्यपि उनकी जीभ कैंची की तरह नहीं चलती थी तथापि उसका प्रवाह पर्वत से उतरती हुई गङ्गा की धारा से कम न था जो पवित्र और शुद्ध तो था पर इतना तीव्र भी था कि मदनमोहन के बड़े भाई लक्ष्मीनारायणजी को छड़ी लेकर उनकी जीभ पर पहरा देना पड़ता था। प्रयाग के वैद्य शिवरामजी ने उनके इस अभ्यास का अच्छा विशद वर्णन किया है—

पण्डित सरयूप्रसाद मेरी चिकित्सा में थे और मालवीयजी उनके यहाँ आया जाया करते थे। मालवीयजी भी रक्त पित्त की बीमारी में ग्रस्त थे। पण्डित सरयूप्रसाद की सलाह से उन्होंने भी मेरी चिकित्सा आरम्भ कर दी। मुझे खूब स्मरण है कि इस बार मैंने बहुत दिनों तक मालवीयजी की दवा की थी मगर किसी प्रकार उनका रोग दूर ही न होता था। मगर मदनमोहन का विश्वास मेरे ऊपर अटल था। उनके घरवाले उनसे नाराज होते थे। कहते थे—'शिवराम की दवा मत करो। वे तुम्हारा बहुत सा रुपया खर्च कराते हैं और तुमको ठगते हैं।' उनका मदनमोहन का उत्तर विलक्षण था। वे लोगों से यही कहते थे कि—मेरे ही कुपथ्य से मेरा रोग नहीं छूट रहा है। शिवरामजी की चिकित्सा में और उनकी आन्तरिकता में कोई कमी नहीं है।

'मगर घरवाले चिंतित थे। उनकी चिंता भी अकारण न थी। वे मुझ से भी मिलते थे और चकित होकर पूछते थे कि क्या कारण है कि मदनमोहन आपकी दवा में इतने दिनों से हैं मगर अभी तक आरोग्य नहीं हुए। अवस्था में परिवर्तन का भी कोई चिह्न उनमें नहीं दिख रहा है। मैं भी परेशान था। मेरी दवा में रोग दूर करने की शक्ति जरूर थी मगर पथ्य-हीन को पथ्य से रहने के लिए विवश करने की ताकत उसमें न थी। मैंने मालवीयजी के घरवालों से कहा कि इनकी बोलने की आदत बहुत बढ़ी चढ़ी है। जब तक यह आदत न छूटेगी तब तक मुँह से खून का जाना बन्द न होगा। मगर मदनमोहन को बोलने का नशा था। चेष्टा करने पर भी वे बोलना नहीं छोड़ सकते थे।

मदनमोहन के बड़े भाई पण्डित लक्ष्मीनारायण को मेरी सलाह जँच गई। फिर क्या था, वे छड़ी लेकर मदनमोहन के साथ रहने लगे। एक दिन ऐसा हुआ कि मालवीयजी से एक बड़े सम्मानित व्यक्ति मिले। इस अवसर पर मैं भी मदनमोहन के पास उपस्थित था। उस प्रतिष्ठित व्यक्ति की मालवीयजी से बातें होने लगीं। प्रहरी पण्डित लक्ष्मीनारायण भी छड़ी लिये मौजूद थे। जब उन्होंने देखा कि बात चीत का तांता अब पथ्य से रहने की सीमा का उल्लङ्घन कर रहा है तब उन्होंने इस तरफ मदनमोहन का ध्यान आकर्षित किया। मदनमोहन तो लीन थे। उन्हें पथ्यापथ्य की कोई परवाह न थी। लाचार होकर लक्ष्मीनारायणजी को कहना पड़ा—'बस भाई!' उस समय मदनमोहन को बहुत बुरा लगा। वे झुँझला गए। वे यह कहते हुए वहाँ से चल दिए—'हमें ऐसी दवा की जरूरत नहीं।' मगर पण्डित लक्ष्मीनारायण पर उनकी इस झुँझलाहट का कुछ भी असर न पड़ा। उन्होंने छड़ी लेकर मदनमोहन के साथ रहना न छोड़ा।'

बात के धनी

मदनमोहन अपनी बात के धनी थे। जो एक बार मन को जँच गई उसका चाहे जितना विरोध हो, चाहे जितनी गालियाँ मिलें, चाहे जो रूठ जाय, पर मदनमोहन टस-से मस हो जाते नहीं थे। जिन दिनों वे कॉलेज में पढ़ रहे थे उन दिनों लॉर्ड रिपन प्रयाग में आनेवाले थे। व भारत के बड़े हितचिंतकों में समझे जाते थे किन्तु अंगरेज लोग उन्हें बड़ी हेय दृष्टि से देखते थे। जब मदनमोहन को मालूम हुआ

कि लौड रिपन आ रहे हैं तो उन्होंने धूम धाम से उनके स्वागत का विराट आयोजन किया। प्रिंसिपल हरिमन यद्यपि बड़े सज्जन अंगरेज थे किन्तु लौड रिपन के स्वागत की बात वे भी नहीं गड़ सके। पर मदनमोहन तो किसी से डरनेवाले पीछे हटनेवाले नहीं थे। इन्होंने प्रिंसिपल को सूचना नहीं होने दी और रातों रात स्वागत करने तथा जुलूस निकालने की पूरी तैयारी कर डाली। अगले दिन लौड रिपन आए, बड़े बाजे गाजे और धूम धाम के साथ लौड रिपन का शानदार जुलूस निकला, उनका स्वागत किया गया और मान पत्र भेंट किए गये। इनके विरोधी बेचारे अवाक होकर मुँह ताकते रह गए करते भी क्या ? यह सभी जान गए थे कि इस सारी धूम धाम की तह में मदनमोहन का ही उद्योग छिपा हुआ था।

कौलेज जीवन

सन १८८१ ई० में उन्होंने म्यौर सेण्ट्रल कौलेज से ही एफ० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की। सन १८८३ ई० में वे बी० ए० की परीक्षा देने आगरे गए। कुछ ऐसा संयोग हुआ कि वे उस वर्ष सफल न हो सके। बहुधा भी व्यक्ति के साथ यह कठिनाई रहती है कि वह यदि दूसरों की भलाई सोचने में लग जाता है तो उसे अपनी उन्नति के लिये अवकाश नहीं मिलता। पर अगले वर्ष सन् १८८४ ई० में मदनमोहन ने कलकत्ते से बी० ए० पास कर लिया और उसी के साथ स्वतन्त्र मदनमोहन को घर में नून तेल-लकड़ी की चिन्ता करने का आदेश मिला। मदनमोहन की बड़ी इच्छा थी कि एम० ए० कर लूँ। एक दिन यों ही हिन्दू समाज की बैठक में काशी के पण्डित मधुमङ्गल मिश्रजी के पिता से भेंट हुई और बात चीत में यही निश्चय हुआ कि संस्कृत में एम० ए० परीक्षा दी जाय और उसके लिये सिद्धान्त मुक्तावली पढ़ी जाय। बस मदनमोहन उनके पास सप्ताह में तीन दिन पढ़ने जाने लगे। उनके पास वे अपनी वेशभूषा में नहीं जाते थे वरन ठेठ विद्यार्थी के ढङ्ग से, धोती पर एक दुपट्टा ओढ़े। उस समय मदनमोहन लम्बी शिखा रखते थे। आजकल के कौलेज के नौजवानों के समान उन्होंने हिन्दुत्व के चिह्न को बहा नहीं दिया था वरन बड़े गौरव के साथ उन्होंने उसकी रक्षा और उसका निर्वाह किया।

गृहस्थी का भार

घर की दशा पहले से ही ठीक नहीं थी। अब अधिक दिनों तक इन्हें आगे पढ़ने के लिए कहाँ से पैसा मिल सकता था। इसलिये न चाहते हुए भी इन्हें अपने विद्या मन्दिर से विदा लेनी पड़ी। जो व्यक्ति ऊपर चढ़ा चला जा रहा हो और शिखर के अत्यन्त समीप पहुँचकर उसे उतर आने का आदेश मिले, उसे कितना दुःख होता होगा यह कहने की बात नहीं है। पर विवशता थी। पिताजी कहाँ तक सहायता करते! उन्होंने इतना भी कर दिया, क्या कम था? फिर सारे परिवार की आँख मदनमोहन पर लगी थी—पढ़ लिख गया है कुछ कमायगा। ऐसे समय में मदनमोहन ने यही उचित समझा कि पढ़ना छोड़कर कुछ काम करें और इन्होंने दो-तीन महीने एम० ए० कक्षा में पढ़कर भी कौलेज छोड़ देने में ही अपने परिवार का कल्याण समझा।

मलकड सिंह

कौलेज के दिन सचमुच इनके बड़ी मस्ती के दिन थे। न ऊधो का लेना न माधो का देना। जो जी में आया निश्चिन्त होकर किया, कभी किसी के आगे भय से सिर नहीं झुकाया। बड़ों के आगे विनय और श्रद्धा से अवश्य झुके, पर जो इनसे कड़ा पड़ा उसके आगे ताल ठोककर खड़े भी हो गए। अपने कौलेज के दिनों में इन्होंने 'जेण्टिल्मैन' नामक एक प्रहसन लिखा था जिसमें इन्होंने दो कविताएँ

लिखी थी—एक में तो इन्होने भक्कड सिंह के रूप में अपना चित्रण किया है और दूसरे में उस समय के पढ़े लिखे विलासप्रिय जेंण्टिलमैनो की हसी उडाई है।

अपने सम्बन्ध में वे कहते हैं—

गरे जूहीके हैं गजरे पडा रङ्गी दुपट्टा तन।
भला क्या पूछिए धोती तो ढाके से मंगाते हैं॥
कभी हम वारनिश पहनें कभी पञ्जाब का जोडा।
हमेशा पास डण्डा है ये भक्कड सिंह गाते हैं॥
न ऊधो से हमें लेना, न माधो का हमें देना।
करें पैदा जो, खाते हैं व दुखियो को खिलाते हैं॥
नही डिप्टी बना चाहें न चाहें हम तसिल्दारी।
पडे अलमस्त रहते हैं युँही दिन को बिताने हैं॥
न देखें हम तरफ उनकी जो हमसे मेव मुह फेरें।
जो दिल से हमसे मिलते हैं झुक उनको देख जाते हैं॥
नहीं रहती फिकर हमको कि लावें तीर औरा लकडी।
मिले तो हलवे छन जावें नही कूरी उडाते हैं॥
सुनो यारो जो सुख चाहो तो पचडे से गृहस्थी के।
छुटो फक्कडपना ले लो यही हम तो सिखाते हैं॥
हमें मत भूलना यारो, बसे हम पास 'मनमोहन'।
हुई है देर जाते हैं तुम्हारा शुभ मनाते हैं॥

इस विवरण में उन्होने अपने तत्कालीन वेश, निश्चिन्तता, मनस्विता, आत्म निर्भरता, सरकारी पदो से विरक्ति, अपने से कन्नी काटने वालो के प्रति उपेक्षा, अपने से स्नेह करने वालो के प्रति विनयपूर्ण अनुराग, निर्लोभिता, नि स्पृहता, गृहस्थी के प्रति विराग और लोक कल्याण की भावना का परिचय देकर अपना पूरा चरित्र दर्पण की भाँति स्पष्ट कर दिया है।

अब तत्कालीन जेण्टिलमैनों की दशा उनके शब्दो में सुनिए।—

अहले यूरप पूरा जेण्टिलमैन कहलाता है हम।
झोपट से बाबू टूमी, मिस्टर कहा जाता है हम॥
गङ्गा जाना पूजा जप तप छोडो ये पाखण्ड सब।
घूमने में मुह को गिरजाघर में नित जाता है हम॥
भाँग गाँजा चरस चण्डू घर में छिप छिप पीते थे।
अब तो बेखटके हमेशा 'बाण्डल' ढरकाता है हम॥
हिन्दुओं का खाना-पीना हमको कुछ भाता नहीं।
बीफ चमचे से बडे होटल में जा खाता है हम॥
बाबू भी चाचा का कहना लाइक हम करता नहीं।
पापा कहना अपने बच्चो को भी सिखलाता है हम॥
कोट पतलून पहने हट एक सिर पर धरे।
ईवनिङ्ग में वाक करने पार्क में जाता है हम॥

इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि थोड़ी सी अंगरेजी पढ़े हुए या अंगरेजों का अनुकरण करने वाले अनेक भारतीय अपने को भारतीय कहलाने में संकोच करते थे, अपने को मिस्टर कहलाने में गौरव समझते थे, गंगा स्नान और पूजा पाठ को पाखण्ड समझते थे, महिलाओं को घूरने के लिए गिरजाघरों में जाते थे, खुलकर मदिरा पीते थे, होटलों में गो मास तक खाते थे, अपने बच्चों से अपने को 'पापा' कहलाना अधिक अच्छा समझते थे कोट, पतलून हैट आदि से युक्त विदेशी वेशभूषा में सायंकाल पार्क में टहलने तो जाते थे किन्तु मन्दिर में नहीं जाते थे। यह कम दुर्भाग्य और चिन्ता की बात नहीं है कि आज स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात भी हमारी अंगरेजी प्रियता कम होने के बदले बढ़ रही है, हमारे बच्चे माता और पिता को ममी और पापा कहते हैं, टाटा करते हैं, उन्हें तृतीय कक्षा से अंगरेजी पढ़ाई जा रही है, उनके आचार विचार नष्ट हो गए हैं, अपने गुरुओं के प्रति उनके मन में श्रद्धा नहीं है, देश के प्रति प्रेम नहीं है, उनका खान पान, रहन-सहन विकृत हो गया है। वे अत्यन्त उद्दण्ड और निरंकुश हो चले हैं, सिनेमा ने उन्हें चौपट कर डाला है। शील और सदाचार का कहां नाम नहीं सुनाई पड़ता। ऐसी विषम परिस्थिति में क्या पुनः मालवीयजी की आवश्यकता नहीं है ?

इस प्रकार विद्या प्राप्त करके बड़े बड़े महापुरुषों का आशीर्वाद पाकर, सब गुणों से अलंकृत होकर, यह स्नातक विद्यामन्दिर को नमस्कार करके सारे राष्ट्र, सम्पूर्ण जाति और विस्तृत समाज की सेवा करने की दीक्षा लेकर मैदान में आ कूदा।



जीवन क्षेत्र में

अध्यापक मालवीयजी

जब मदनमोहन के परिवार की दरिद्रता उनकी पढ़ाई का द्वार रोककर खड़ी हो गई तो उन्हें अपने और अपने गुरु पण्डित आदित्यरामजी के अनुरोध का बलिदान करके उस विवशता का लोहा मानना पड़ा और वे सुपुत्र के कर्त्तव्य का निर्वाह करने के लिए अपने पूज्य पिताजी और माताजी के बुढ़ापे की लाठी बनने की चिंता में लग गए। मदनमोहन के गुण किसी से छिपे नहीं थे। छोटे-बड़े सभी उन्हें जानते थे। इधर कॉलेज छूटा, उधर गवर्नमेण्ट हाई स्कूल में एक अध्यापक की माँग हुई। मदनमोहन बी० ए० अपने पुराने स्कूल में पचास रुपये महीने पर अध्यापक हो गए। अब इनके परिवार के दिन फिरे। इन्होंने 'मलई' नाम का संस्कृत करके उसे 'मालवीय' बना दिया और मालवीयजी कहलाने लगे और पण्डित मदनमोहन मालवीय बी० ए० के नाम से प्रसिद्ध हो गए। इनके मालवीय नाम का प्रचार इतना हुआ कि इनके परिवार और कुटुम्बवालों ने तो इस नाम को अपनाया ही, साथ ही श्री गौड़ चतुर्वेदी ब्राह्मण भी अपने को मालवीय लिखने लगे फिर तो यह राग ऐसा बढ़ा कि मालवा से तनिक भी सम्बन्ध रखने वाले लोग अपने नाम के पीछे मालवीय लगाने लगे। महापुरुषों के नाम में भी तो कुछ जादू होता ही है।

अब मालवीयजी स्कूल में पढ़ाने लगे। लोगों का ऐसा विश्वास है कि विद्यादान सब दानों से बढ़कर है और अध्यापन के समान कोई भला काम नहीं है, पर साथ ही यह भी आवश्यक है कि अध्यापक में कुछ आवश्यक गुण भी हों, वे हैं सच्चरित्रता, मृदुभाषिता और अपने विषय का पूर्ण ज्ञान। जिस अध्यापक में ये तीन गुण न हों वह अध्यापक कैसा? अध्यापक स्वयं विद्यालय होता है। उसे देखकर, उसके सम्पर्क में आकर ही यदि विद्यार्थी प्रभावित न हों, उसे अपना आदर्श न मान लें तो फिर वह अध्यापक क्या हुआ! मालवीयजी इन तीनों बातों में धनी थे। थोड़े ही दिनों में विद्यार्थी इनसे हिलमिल गए इनके भक्त हो गए। जिन्होंने इनके चरणों में बैठकर पढ़ा है उनका कहना है कि ऐसा योग्य अध्यापक कभी देखने में तो क्या, सुनने में भी नहीं आया। उनकी अध्यापन कुशलता की एक स्मरणीय घटना है। एक बार वे घूमते घामते काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कमच्छा टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज में आए। वहाँ पर शिक्षक-छात्र बैठे शिक्षण शास्त्र पढ़ रहे थे। उन्हें देखकर अचानक उन्हें प्रयाग का गवर्नमेण्ट हाई स्कूल स्मरण हो आया। उनके हृदय के भीतर बैठा हुआ अध्यापक पुरानी स्मृति लेकर सहसा जाग उठा। उन्होंने तत्काल वहाँ काम करने वाले अपढ़ मिस्त्रियों और कारीगरों को एकत्र किया और कहा देखो! हम तुम्हें लिखना सिखाते हैं और उन्होंने थोड़ी ही देर में इस कौशल से उन्हें समझा-समझाकर 'राम' लिखना बता दिया कि अक्षरों का ज्ञान हुए बिना भी, अ आ इ ई और क ख ग बिना सीखे भी वे लोग बिना परिश्रम के 'राम' लिखने लगे। उनका यह शिक्षण-कौशल देखकर टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज के अध्यापक भी दंग रह गए।

अपने देश, वाणी और व्यवहार से वे सच्चे आदर्श पुरुष रहे और जब कभी वे विद्यार्थियों को उपदेश देने बैठते थे, या कभी एकादशी कथा प्रारम्भ करते थे उस समय उनके कण्ठ से केवल कथाकार व्यास ही नहीं वरन व्यास के अन्तरात्मा में बैठा हुआ भागवत भी स्वयं भाव से बोलता सुना जाता था।

उसी गवर्नमेण्ट हाई स्कूल में इनके चचेरे भाई पण्डित जयगोविन्द मालवीय भी संस्कृत पण्डित थे। वे कोरे नाम मात्र के पण्डित ही न थे, वरन व्याकरण के बड़े प्रौढ़ विद्वान् थे। मालवीय जी का और उनका बड़ा अच्छा साथ रहता। उस स्कूल में एक बात मालवीयजी को सदा खटकती थी और वह थी धर्म शिक्षा की अभावता। जो दुःख की सबसे बड़ी बात तो यह थी कि ईसाई और मुसलमानों के लड़के तो अपने धर्मों, धर्म गुरुओं, धर्म ग्रन्थों तथा धार्मिक आख्यानों को बहुत कुछ जानते थे, पर हिन्दू विद्यार्थी अपने धर्म का क ख ग भी नहीं जानते थे और न जानने की चेष्टा ही करते थे। वे ऐसे निकम्मे और निर्जीव थे मानो उनके न हृदय है न आत्मा। वे धर्म को ढोंग मात्र समझते थे और धर्म की बातें करनेवाले को ढोंगी समझते थे। हिन्दू बालकों की यह नास्तिकता और उदासीनता मालवीयजी को बहुत अखरी। उन्हें यह भी देखकर बड़ा दुःख हुआ करता था कि हिन्दू बालक अपने धर्म पर, देवी देवताओं पर, आचार विचार और अपने समाज पर दूसरों के आक्षेप सुनकर भी अनसुना कर देते या मौन रह जाते थे जैसे वे निस्सार हों, तत्त्वहीन हों। पर उस समय मालवीयजी कुछ न कर सके। इसका उन्हें सदा ही खेद रहा।

मालवीयजी की पगड़ी, दुपट्टे, और अंग के वश में पूरे पर के वस्त्र मौज और बन गए। मालवीयजी के पढ़ाने के ढङ्ग और सब छात्रों के प्रति इनके मधुर व्यवहार को देखकर दो वर्ष में ही इनका वेतन पचहत्तर रुपये हो गया। इनके शिष्यों में प्रयाग के प्रसिद्ध नागरिक डाक्टर सतीशचन्द्र बनर्जी भी रह चुके थे। स्कूल में अध्यापन करते समय की एक घटना कभी नहीं भूली जा सकती। एक बार छात्रों की परीक्षा हो रही थी। एक मुसलमान छात्र एक दूसरे विद्यार्थी की पुस्तिका से प्रतिलिपि कर रहा था। मालवीयजी ने ताड़ लिया और तत्काल उसे कमरे से बाहर निकाल दिया। वह लड़का भी एक शैतान था। कहने लगा कि कभी समझ लेंगे। पर मालवीय जी इस गीदड़ भभकी से डरनेवाले जीव नहीं थे। सब ने बार बार मालवीयजी को समझाया कि इस दुष्ट के मुँह न लगिए, न जाने क्या कर बैठे। आप पैदल न जाया करें इक्के पर जायें। मालवीयजी ने उत्तर दिया कि हमारे क्या हाथ नहीं है, हम पैदल ही जायेंगे। वे बराबर पैदल ही जाते रहे। मालवीयजी को छेड़ने का तो उसे साहस न हुआ पर जिस लड़के के उत्तर की वह प्रतिलिपि कर रहा था उसे उस दुष्ट ने पकड़ ही लिया और दिन भर बैठाए रक्खा। बेचारे को कुछ लोगों की सहायता से छुटकारा मिला। पर मालवीयजी के व्यक्तित्व का उस दुष्ट लड़के पर इतना प्रभाव पड़ा कि वह आकर इनके पैरों पर गिरा और इनसे क्षमा माँगी।

भारती भवन

मालवीयजी कोरे अध्यापक नहीं थे। पढ़ाने के अतिरिक्त जो कुछ समय मिलता उसे समाज सेवा और जन-सेवा में लगाते थे। वह समय भी कुछ दूसरा ही था। सरकारी नौकरी करते हुए भी वे कांग्रेस में सम्मिलित हुए। सन् १८८५ ई० में भारतीय राष्ट्रीय महासभा की स्थापना हुई थी। मालवीयजी अपने निर्भीक गुरु पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य के साथ सन १८८६ ई० में होनेवाली कलकत्ता कांग्रेस की बैठक में पहुँचे। यहीं से मालवीयजी की जीवन धारा बदल गई। किस प्रकार इन्होंने स्कूल छोड़ा, सम्पादक बने और वकालत की, यह भी एक ऐतिहासिक घटना है।

लालडिग्गी मुहल्ले में लाला गयाप्रसाद के पुत्र लाला व्रजमोहन लाल हिन्दी के बड़े प्रेमी थे। बचपन में उन्हें हिन्दी पुस्तकों से प्रेम हो गया था, यहाँ तक कि कई भी हिन्दी पुस्तक उन्होंने जुटा ली थीं। स्वर्गवासी विद्वत शिरोमणि पण्डित जयगोविन्द मालवीय और रायबहादुर लालबिहारी बी० ए० की प्रेरणा और सहायता से वही पुस्तकालय, जो पहले व्यक्ति का था, सर्वसाधारण का हो गया और १५ दिसम्बर, सन् १८८६ ई० को भारती भवन पुस्तकालय की विधिवत स्थापना हो गई। प्रारम्भ में पण्डित जयगोविन्द जी ने अपनी बहुत सी अमूल्य हस्तलिखित पुस्तकें भारती भवन को सौंप दी। इसी प्रकार बहुत से सज्जनों ने अपनी-अपनी कुछ पुस्तकें दे दी और यह एक छोटा सा सार्वजनिक पुस्तकालय बन गया—फिर पण्डित जयगोविन्द मालवीय, रायबहादुर बाबू लालबिहारी, पण्डित बालकृष्ण भट्ट, माननीय पण्डित मदनमोहन मालवीय, पण्डित श्रीकृष्ण जोशी, डाक्टर जयकृष्ण व्यास, बाबू कालिकाप्रसाद, पण्डित रामनाथ मिश्र और देवकीनन्दन तिवारी के उद्योग से यह पुस्तकालय निरन्तर उन्नति करता गया। लाला व्रजमोहनलालजी की कोई सन्तान न थी। उनकी इच्छा थी कि भारती भवन को अच्छे रूप में चलाया जाय और यह अजर अमर हो जाय। अन्तिम बीमारी की अवस्था में भी उनको यही चिन्ता सताए हुए थी कि इसे कैसे चिरस्थायी किया जाय। इसी कारण रोग की दशा में भी अपने परम मित्र बाबू लालबिहारीजी को भारती भवन का दान-पत्र लिखवाने तथा उसकी रजिस्ट्री करा देने के लिए उठते बैठते टोका करते थे। अपने आराध्य से निराश होकर उन्होंने प्रयाग के रईस रायबहादुर लाला रामचरणदास को बुलाकर स्वयं यह इच्छा प्रकट की कि तुम भारती भवन के लिए भवन बनाने का भार ले लो। सुयोग्य लाला रामचरणदास ने जब इस भार को स्वीकार कर लिया तब उन्हें इतना आनन्द हुआ कि विह्वल होकर गाने लगे। जब उन्होंने बाबू लालबिहारी से सुन लिया कि भारती भवन का दान-पत्र लिखा गया और अब उसके चिरस्थायी होने में किसी प्रकार की बाधा नहीं है तब उन्हें बड़ी शान्ति हुई। लाला व्रजमोहनलालजी की जीवनी के अन्तिम अङ्क में यह बात भी सदा स्मरणीय रहेगी कि जब तक भारती भवन के नए स्थान की नींव नहीं पड़ी, वे बराबर इसके लिए व्यग्र रहे, किन्तु जैसे ही उन्होंने सुना कि रायबहादुर लाला रामचरणदासजी ने नींव डाल दी त्यों ही मानो इनके जीवन का उद्देश्य पूरा हो गया, वे तुरन्त ही बेसुध हो गए और दूसरे दिन एकादशी को उन्होंने शरीर छोड़ दिया।

लाला व्रजमोहनलालजी ने अपने अन्तिम समय में जो दान पत्र भारती भवन के लिए लिखा उसके द्वारा भारती भवन का कार्य जिन सज्जनों को सौंपा गया उन में पण्डित मदनमोहन मालवीय, बी० ए०, एल एल० बी०, वकील हाइकोर्ट प्रयाग, भी थे। इस पुस्तकालय को उन्नत करने और इसे स्थापित करने में मालवीयजी का कुछ कम हाथ न था। अब तो उस पुस्तकालय के कारण यह मुहल्ला भारती भवन कहलाने लगा है। मालवीयजी के उद्योग से इसे डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और प्रान्तीय सरकार से भी सहायता मिलने लगी। भारती भवन का नाम मालवीयजी से ऐसा जुड़ गया है कि सब लोगों का विश्वास है कि भारती भवन पुस्तकालय मालवीयजी की ही व्यक्तिगत निधि है।

मैकडोनल युनिवर्सिटी हिन्दू बोर्डिङ्ग हाउस

प्रयाग के म्योर सेण्ट्रल कॉलेज ने तो विद्यार्थियों को आकर्षित किया ही था, थोड़े ही दिनों पश्चात् सन् १८८७ ई० में जब इलाहाबाद विश्वविद्यालय की नींव पड़ी तब तो और भी विद्यार्थी प्रयाग आने लगे। यह उत्तर प्रदेश का सबसे पहला विश्वविद्यालय था इसलिए चारों ओर से विद्यार्थियों के झुण्ड के झुण्ड प्रयाग आने लगे। पर छात्रावास पर्याप्त नहीं थे, इसलिये विद्यार्थियों को बड़ी

असुविधा होने लगी। व्यय भी अधिक होता था और रहने खाने-पीने और पढ़ने में भी अड़चनें पड़ रही थी। मुसलमान और ईसाई विद्यार्थियों की संख्या भी कम न थी और उनके रहन-सहन हिन्दुओं से भिन्न होने के कारण उन्हें असुविधाएं भी उतनी न होती थीं। हिन्दू विद्यार्थियों का यह कष्ट मालवीय जी से छिपा न रह सका क्योंकि दूसरे की व्यथा का अनुमान वे सहज ही लगा लेते थे। उन्होंने झट निश्चय कर लिया कि हिन्दू विद्यार्थियों के रहने के लिए एक आदर्श छात्रालय बनवाना आवश्यक है जिसमें प्रयाग आने वाले हिन्दू विद्यार्थियों के आवास भोजन का पूरा सुपास हो। कर्मठ पुरुष को तो विचार करने भर की देर होती है। गुप्त शक्तियाँ स्वयं उसका हाथ बटाने को व्याकुल रहा करती हैं। मालवीयजी के संकल्प का सारे प्रान्त ने जी खोलकर स्वागत किया। उस समय म्योर सेण्ट्रल कौलेज ही प्रथम श्रेणी का महाविद्यालय था। सभी लोग अपने बालकों को वहीं भेजना चाहते थे और सभी के मन में छात्रालय का अभाव खटक रहा था फिर जब इस उत्साह के पीछे तत्कालीन गवर्नर महोदय की प्रेरणा का संकेत भी मिल गया तब तो बहुत लोगों ने अपनी थैलियाँ खोल दी। जिसके मन में दया, उदारता, करुणा, परोपकार आदि सद्भावों का सर्वथा अभाव होता है वे भी अधिकारियों के संकेत पर कैसे सर्वगुण सम्पन्न और उदार बन जाते हैं उसका यह प्रत्यक्ष उदाहरण है, यह आज इस जागति और स्वतन्त्रता के युग में भी कम नहीं हुआ है। उत्तरप्रदेश भर में घूम घूमकर उन्होंने रुपया एकत्र किया। किस प्रकार उन्हें रुपया मिला, उसकी एक ही घटना का विवरण देना पर्याप्त होगा। प्रयाग में जब हिन्दू छात्रावास बन रहा था, उस समय मालवीयजी रायबहादुर लाला सौंवलदास के पास गए। वे उस समय कार्यालय जा रहे थे। मालवीयजी ने उनसे कहा कि एक सहस्र रुपया दीजिए तो आपके नाम से एक कमरा बन जाय। मालवीयजी की मधुर वाणी से वे इतने प्रभावित हुए कि बिना सोचे विचारे उन्होंने एक सहस्र का चेक उन्हें दे दिया। पीछे से उन्होंने सोचा कि इस पर कुछ विचार करना चाहिए था और शीघ्रता नहीं करनी चाहिए थी किन्तु पण्डितजी की प्रभावशाली प्रार्थना से ही वे उनके वश में हो गए थे।

फलतः सन् १९०३ ई० में उत्तरप्रदेश के तत्कालीन गवर्नर सर एण्टनी मक्डानल के नाम पर दो सौ पचास हिन्दू विद्यार्थियों के रहने योग्य एक विशाल भवन बन गया जिसका नाम पड़ा 'मक्डोनल् युनिवर्सिटी हिन्दू बोर्डिंग हाउस।' यह भवन प्रयाग के दर्शनीय भवनों में से एक है। मक्डोनल साहब का जो यश फैलना था वह तो फैला ही, बहुत दिनों तक वह छात्रालय 'मालवीयजी का बोर्डिंग हाउस' कहलाता रहा।

मिण्टो पार्क

पहले अध्याय में ही १ नवंबर १८५८ई० को हुए लार्ड कैनिंग के भव्य दरबार का उल्लेख हो चुका है। उस दरबार को हुए तो पचास वर्ष बीत चुके किंतु महारानी विक्टोरिया की उस घोषणा को पुनर्जीवित करने और उसकी स्मृति दिलाने के लिये भारत ने कुछ भी न किया। सन् १९११ ई० में जब लौर्ड मिण्टो यहाँ से विदा लेने लगे उस समय मालवीयजी के मन में आया कि जिस स्थान पर लार्ड कैनिंग का दरबार हुआ था उसी स्थान पर एक घोषणा-स्तम्भ स्थापित किया जाय और उसके चारों ओर एक सुंदर वाटिका लगाई जाय जिसके साथ लौर्ड मिण्टो के नाम का सम्बन्ध हो। घर में सूत न कपास जुलाहे से लट्ठम लट्ठा। मालवीयजी ने झट वाइसराय को यमुना-तट पर मिण्टो पार्क के शिलान्यास के लिये निमन्त्रित कर दिया। लौर्ड मिण्टो ने स्वीकार करके एक दिन भी नियत कर दिया। प्रसिद्ध देशभक्त श्रीगोपालकृष्ण गोखलेजी को जब यह ज्ञात हुआ तो वे बड़े चिन्तित हुए क्योंकि वे जानते थे कि अभी एक कौड़ी एकत्र नहीं हुई है। उन दिनों सुप्रीम कौंसिल की बैठक हो रही थी और मालवीयजी

भी वहाँ थे। गोखलेजी उनके पास गए और बोले, 'पण्डितजी ! यह आपने क्या कर डाला ! आपके पल्ले पैसा तो एक है नहीं और आपने वाइसराय से पार्क का शिलान्यास कराने की तिथि भी पक्की कर ली। बहुत थोड़ा समय रह गया है, कृपा करके कौंसिल की बैठक छोड़ दीजिए और जा कर रुपया इकट्ठा कीजिए। यदि समय से रुपया न मिला और आपका अपयश हुआ तो हम लोगों का भी अपयश होगा।' उन्होंने सचमुच बड़ी सात्विक उत्सुकता से कहा था। पर मालवीयजी मुस्कराए। उनकी मुस्कराहट जिन्होंने देखी है वे तो भली प्रकार उसकी कल्पना कर सकते हैं। उन्होंने गोखलेजी से कहा, 'इस चिन्ता के लिये आपको धन्यवाद। घबराइए नहीं, सब रुपये यहीं बैठे आए जाते हैं। मुझे इसके लिये कहीं जाना नहीं होगा। मेरे पत्र ही रुपया ले आवेंगे।' मालवीयजी सचमुच कहीं नहीं गए। उनकी चिट्ठियाँ ही एक लाख बत्तीस हजार आठ सौ सत्तानवे रुपए ले आईं। गंगा यमुना के पवित्र संगम पर ८ नवम्बर सन् १८१० ई० को बड़ा भारी महोत्सव हुआ। वह समय कुछ टेढ़ा था। वाइसराय लोग अपनी जान हथेली पर लिए चलते थे। न जाने कब क्या हो जाय। इसीलिये लॉर्ड मिण्टो के आने के समय की सूचना नहीं दी गई और वे चुपचाप आए जैसे आषाढ़ का पहला बादल आता है—अचानक। चारों ओर कड़ा पहरा था। मिण्टो पार्क के बाद में आने जाने की बड़ी रोक टोक थी पर मालवीयजी ने सारा दायित्व अपने ऊपर ले लिया और सब के लिये द्वार खोल दिए। प्रातःकाल ११ बजे सदलबल लॉर्ड मिण्टो और लेडी मिण्टो का आगमन हुआ। प्रयाग सेना ने दुर्ग की तोपों से उनका अभिनन्दन किया, ऑल इण्डिया मिण्टो मेमोरियल कमिटी के सहकारी मन्त्री पण्डित मोतीलाल नेहरू ने स्वागत-पत्र पढ़ा, लॉर्ड मिण्टो ने उसका उत्तर दिया और उक्त पार्क का शिलान्यास हो गया। एक तांबे के पात्र में अभ्युदय, लीडर, पायोनियर तथा अन्य पत्रों की प्रतियाँ तथा उक्त घोषणा स्तम्भ का विवरण पत्र रखकर नींव में रख दिया गया। इसके पश्चात वाइसराय अपने दलबल सहित प्रदर्शिनी और बेलवम क्लब देखने चले गए। आकाश अब तक तो निरभ्र था। धूप निकली हुई थी। पर अचानक घटा घिर आई और बात की बात में मूसलाधार वर्षा होने लगी जो वाइसराय के विदा होने तक होती रही। पैंतालीस मिनट घूमने के पश्चात ये लोग प्रदर्शिनी के द्वार पर पहुँचे जहाँ मालवीयजी से कुछ देर तक बात करके और हाथ मिलाकर लॉर्ड मिण्टो ने बनारस के लिये प्रस्थान किया। धूमधाम से उत्सव समाप्त हो गया। समय पर रुपये भी आ गए, मालवीयजी का भी अपयश नहीं होने पाया और गोखलेजी का भी मान रह गया।

जिस स्थान पर खड़े होकर बड़े बड़े वीर आगे का मार्ग नहीं खोज पाते उसी स्थान पर खड़े होकर आशा की एक बड़ी सूक्ष्म किरण के सहारे मालवीयजी आगे बढ़ते चले जाते थे। यही आशा उनके सार्वजनिक-जीवन की कुञ्जी थी पर जैसे बहुत से ताले, कुञ्जी मिल जाने पर भी सब से नहीं खुल पाते उसी प्रकार जान पड़ता है कि इस कुञ्जी के प्रयोग करने का गुण केवल उन्हीं को आता था।

पत्रकार मालवीयजी

सन १८८६ ई० की राष्ट्रीय महासभा ने मालवीयजी को सारे भारतवर्ष से परिचय करा दिया। राष्ट्रीय महासभा के मञ्च पर पहली बार खडे होने ही उन्होंने सारे देश को अपना लिया। मालवीयजी कभी कभी कहा करते थे कि यही राष्ट्रीय महासभा मेरी सारी सफलता की पहली सीढ़ी है। किस मन्त्र से इन्होने सबके हृदय पर विजय पाई, सबके नेत्रों को अपनी ओर आकृष्ट किया और सबके प्रेम पात्र बने यह तो यथास्थान कहा जायगा पर इतना ही कहना बहुत होगा कि उस राष्ट्रीय महासभा में उपस्थित सभी नेताओं ने समझ लिया कि प्रयाग का यह ब्राह्मण साधारण व्यक्ति नहीं है। वहाँ बैठे हुए कई महापुरुषों ने प्रकट और अप्रकट यह भविष्यवाणी भी कर दी थी कि निकट भविष्य में सारा देश मिलकर अपनी रास इस महापुरुष के हाथ अवश्य सौंप देगा।

कालाकाँकर के स्वर्गीय राजा रामपाल सिंह उन्हीं दिनों विलायत से योरोपियन महिला से विवाह करके लौटे थे। उनके खान पान और रहन सहन के ढंग को देखकर कोई भी विश्वास नहीं कर सकता था कि उनके विलायती कोट के नीचे उदार हृदय, उनके अंगरेजी टोप के नीचे विचारशील मस्तिष्क और उनकी मदिरा की प्याली में देशभक्ति का मद छिपा हुआ है। पर जब वे किसी सभा के सभापति का आसन ग्रहण करने के लिये बुलाए जाते तो वे अपना विलायती ठाठ बदल देते थे और चौगोशिया टोपी, चपकन और पाजामा पहनकर जाते थे। राष्ट्रीय महासभा के प्रभावशाली नेताओं में वे भी एक थे और वहाँ के मञ्च पर वे सिंह के समान दहाड़ते थे। पूर्व और पश्चिम दोनों राजा साहब में मिलकर बसे हुए थे। राजा साहब मखमली गद्दा पर नींद लेनेवाले कोरे राजा साहब नहीं थे। उन्होंने विलायत तो देखा ही था पर हिन्दुस्तान को भी उन्होंने भली भाँति पहचान रक्खा था। टूटी हुई मड़या में किसान के परिवार की भूख और दीन कारीगर के आँसू उनसे छिपे न थे। साथ ही वे यह भी समझ गए थे कि अपनी बोलचाल की भाषा मातृभाषा को बिना ऊपर उठाए दीन भारत गूंगा रह जायगा, वह अपनी व्यथा कह न पावेगा। इसलिये उन्होंने 'हिन्दुस्तान' नाम का एक साप्ताहिक पत्र निकालना प्रारम्भ किया। वे उसे दैनिक बनाना चाहते थे पर उन्हें किसी ऐसे व्यक्ति की खोज थी जो 'हिन्दुस्तान' को सम्भाल सके। कलकत्ते में होनेवाली दूसरी राष्ट्रीय महासभा के मञ्च पर मधुर किन्तु प्रभावशाली शब्दों की अटूट धारा बहाता हुआ उन्हें एक ब्राह्मण दिखाई दिया जिसके तेजस्वी मुख से और धौले चिट्टे कपड़ों से सचाई, निश्छलपन, उत्साह और योग्यता का प्रकाश निरन्तर बरस रहा था। सन १८८४ ई० के केन्द्रीय हिन्दू समाज के उत्सव में 'धृष्टता करनेवाले जिस लौंडे से राजा रामपाल सिंह बेतरह चिढ़ गए थे उसे आज उन्होंने परख लिया। जिसे वह काँच का टुकड़ा समझे हुए थे वह हीरा निकला। जौहरी भला हाथ में आया हीरा क्यों छोड़ने लगा। राजा साहब ने मालवीयजी से कहा कि 'अपनी साठ रुपये की अध्यापकी छोड़कर 'हिन्दुस्तान' का सम्पादन करो, देश की सेवा करो और वकालत पढ़ो। मैं आपको दो सौ रुपया मासिक दिया करूँगा।'

मालवीयजी दुविधा में पड़ गए। देश सेवा करने की धुन तो उन्हें थी सही पर उन्हें 'हिन्दु

स्तान' का सम्पादकत्व ग्रहण करने से पहले बहुत सी बातें सोचनी पड़ी। वे कट्टर ब्राह्मण थे, किसी का छुआ अन्न-जल नहीं ग्रहण करते थे। पूजा पाठ, नेम धर्म के बड़े पक्के थे। उधर राजा साहब को खान पान का कुछ विचार न था, सबके साथ वे सब कुछ खा पी सकते थे। मालवीयजी का पञ्च पात्र और राजा साहब का प्याला दोनों एक साथ भला कैसे रह सकते थे। मालवीयजी वकालत वृत्ति को भी सौतेली माँ की आँखों से देखते थे। बहुत कुछ सोच विचार करने के पश्चात मालवीयजी ने यह प्रस्ताव रक्खा कि 'मैं अंगरेजी और हिन्दी दैनिक 'हिन्दुस्तान' का सम्पादन इस प्रतिबन्ध पर स्वीकारता हूँ कि जिस समय आपने मदिरा पी हो उस समय न मुझ से बोलें और न मुझे अपने पास बुलावें।' आज कितने ऐसे निडर और आत्म प्रतिष्ठावाले सम्पादक होंगे जो अपने सहायक और पालक से इस प्रतिबन्ध पर सहायता लेने का साहस करें। मालवीयजी दीन ब्राह्मण के पुत्र भले ही रहे हों पर उन्होंने आत्मा को बेचना नहीं सीखा था।

राजा साहब के लिये यह बड़ी कठोर तपस्या थी। पर वे मालवीयजी को बहुत मानते थे और उनकी यही इच्छा थी कि मालवीयजी जैसे योग्य पुरुष के लिए स्कूल कोई उचित स्थान नहीं है। उन्होंने प्रस्ताव मान लिया और सन १८८७ ई० के जुलाई मास में, न चाहते हुए भी उन्होंने स्कूल से पद त्याग कर दिया और प्रयाग छोड़कर वहाँ से तीस मील दूर कालाकाँकर में रहकर हिन्दी के सर्वप्रथम दैनिक 'हिन्दुस्तान' का सम्पादन प्रारम्भ कर दिया। जो स्कूल में तीस-बत्तीस विद्यार्थियों की कक्षा पढ़ाता था, अब वह तीस-बत्तीस लाख की विशाल जनता की अप्रत्यक्ष कक्षा को पढ़ाने-सीखानेवाला सम्पादक बन गया।

मालवीयजी की लेखनी से मंजकर 'हिन्दुस्तान' चमक उठा। ग्राहकों की संख्या बरसाती समुद्र की लहरों की भाँति बढ़ती चली गई। मालवीयजी का अधिक समय अब पत्र-सम्पादन में ही लगता था। सप्ताह में छः दिन वे कालाकाँकर में रहते थे, एक दिन प्रयाग में। रविवार को पत्र का साप्ताहिक संस्करण राजा साहब के ही सम्पादकत्व में निकलता रहा। मालवीयजी के लेख बड़े मार्के के होते थे। सभी विषयों पर इनके सम्पादकीय लेख निकलते थे, सब में विशेष प्रभाव होता था, शक्ति होती थी और आकर्षण होता था। कभी-कभी सामाजिक, धार्मिक या राजनीतिक समस्या पर गहरी चोट भी कर जाते थे पर वह चोट ऐसी होती थी जिसे पढ़कर चोट खानेवाला भी एक बार फड़क उठता था और 'वाह-वाह' करने लगता था। ऐसे सूरमा बहुत कम दिखाई पड़ते हैं जिनके वार भी न चूकें और घायल एक बार तड़प कर उस सूरमा के कौशल की प्रशंसा भी करे। मालवीयजी ऐसे ही धनुर्धर थे। 'हिन्दुस्तान' पढ़ने के लिये लोग विकल रहते थे। सबसे पहले हिन्दी में 'तड़ित समाचार' इसी पत्र में निकले थे। जनता और सरकार दोनों ने इस पत्र का स्वागत किया।

यहाँ पर मालवीयजी की एक विशेषता का उल्लेख करना असंगत न होगा। वे बड़े भयंकर छापा-शोधक प्रूफ-रीडर थे। एक बार लिखकर उसको कई बार काट छाँट घटा-बढ़ाकर तो वे अपने लेखों को छपने भेजते ही थे पर यह जानकर कम आश्चर्य न होगा कि मशीन पर छपते छपते भी वे लेखको शुद्ध करते रहते थे। मालवीयजी के लेखका नाम सुनकर ही अभ्यस्त छापेखाने एक बार घबरा उठते थे। पहली बार जब छपा हुआ लेख उठाकर उनके पास भेजा जाता था, उसे इस प्रकार रंग देते थे कि उसे शुद्ध करना भी एक समस्या हो जाती थी। पर एक बात सभी एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि वे जो संशोधन करते थे उससे लेख निखरता चला आता था। उनसे सम्बन्ध रखनेवाले जितनी पत्र-पत्रिकाएँ हैं और रही हैं उनमें प्रायः वे छाप की अशुद्धियों को देखते और उन पर चिह्न लगा देते थे। उनका सदा से यह आदेश रहा है कि अच्छे पत्र के लिये छाप की अशुद्धियाँ होना बड़े कलंक की बात है।

अढ़ाई बरस तक मालवीयजी ने बड़े गौरव से हिन्दुस्तान का सम्पादन किया और बड़ा नाम कमाया। मालवीयजी के साथ रहने का यह प्रभाव हुआ कि राजा साहब के बहुत से बुरे व्यसन उन्हें छोड़कर भाग गए। उनका नशा पानी भी बन्द सा हो गया। पर वे मनुष्य ही तो थे। व्यसन कोई ऐसी वस्तु तो है नहीं कि बस कह दिया, छूट जाय। राजा साहब ने ढाई बरस तक तो मालवीयजी के नियम को निबाहा, पर एक दिन एक ऐसी घटना हुई कि मालवीयजी ने 'हिन्दुस्तान' के सम्पादकत्व से और राजा साहब के सहवास से नाता तोड़ लिया। एक दिन राजा साहब प्याला चढ़ा चुके थे, उसी समय उन्होंने किसी आवश्यक सम्मति के लिए मालवीयजी को बुलवा भेजा। बातचीत कर चुकने के पश्चात उन्होंने राजा साहब से कहा कि आज से मेरा अन्न जल आपके पास से उठ गया। आपने मुझसे जो प्रतिबन्ध बांधा था, वह आज टूट गया। मैं आज ही रात को या कल प्रातःकाल चला जाऊंगा। आप अपने पत्र का प्रबन्ध कर लीजिए। आपकी उदारता और स्नेह को मैं कभी नहीं भूलूँगा। राजा साहब यह सुनकर सन्न रह गए। राजा साहब ने बहुत समझाया पर हिमालय तो अपने स्थान से टलता नहीं है। मालवीयजी के बड़े भाई भी समझाकर हार गए। अन्त में राजा साहब ने कहा अच्छा जाओ वकालत पढ़ो। जितने दिन पढ़ोगे सारा व्यय मैं दूँगा। मालवीयजी सन १८८९ ई० में हिन्दुस्तान छोड़कर चले आए। इतने अच्छे पद का त्याग कोई साधारण त्याग नहीं था। त्याग के हवन-कुण्ड में मालवीयजी की यह प्रथम पहली महत्वपूर्ण आहुति थी।

'हिन्दुस्तान' से विदा लेकर जब मालवीय जी घर लौटे तो युक्तप्रान्त (उत्तर प्रदेश) के सिंह पण्डित अयोध्यानाथ के अंग्रेजी पत्र 'इण्डियन ओपिनियन' (भारतीय मत) ने उनका स्वागत किया और वे उसके सम्पादन में पण्डित अयोध्यानाथजी का हाथ बँटाते रहे। पण्डित अयोध्यानाथजी जैसे दबंग निडर और स्पष्ट वक्ता थे वैसा ही उनका पत्र भी था। प्रयाग के लब्धप्रतिष्ठ नागरिक पण्डित बलदेवराम दवे भी इनके साथ ही थे। और इन दोनों के सम्मिलित परिश्रम ने पत्र को अत्यन्त लोकप्रिय बना दिया। पीछे यह पत्र लखनऊ के एडवोकेट से मिला। वह भी मालवीयजी के सहयोग से वञ्चित न रहा।

अभ्युदय

सोए हुए लोगों को कुम्भकर्णी नींद से जगाने के लिए यदि सबसे अच्छा और सीधा कोई उपाय है तो वह पत्र है। इलाहाबाद के उर्दू के महाकवि अकबर ने एक बार कहा था —

खींचो न कमानों को न तलवार निकालो।
जब तोप मुकाबिल हो तो अखबार निकालो॥

चाहे यह शेर अखबारों की बढ़ती हुई बाढ़ पर फबता ही क्या न हो पर इसकी सचाई में तिलभर भी सन्देह नहीं है। उस समय जब कि सारी आर्य्य जाति अपनी प्राचीन संस्कृति को पुराने बेठन में लपेटकर और अपनी प्राचीन वीरता तथा आत्म-सम्मान को म्यान में डालकर गहरी नींद ले रही थी, उस समय पत्र निकालने के सिवाय और कोई ऐसा साधन नहीं रह गया था जिससे सरकार की क्रोधाग्नि से बचते हुए उनको जगाया सके। मालवीयजी यह बात भली भाँति समझ चुके थे। कौलेज में पढ़ने के समय ही मालवीयजी उस दिन का सपना देखा करते थे जब गङ्गाजी के तीर पर प्रयाग से काशी तक एक आश्रम बने जिसमें लोग संयम-पूर्वक रहकर अपना ज्ञान बढ़ावें, [illegible] विद्यालय बने जिसमें सब विद्याएँ सारे विज्ञान, यन्त्र-शास्त्र और शिल्प शास्त्र सिखाए जाने के

समान पढ़ाए जायें और भारतीय विद्यार्थियों को किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी विलायत न जाना पड़े। मालवीयजी के साथी उस समय उनकी हँसी उड़ाते थे कि 'मदनमोहन पागल हो गया है।' उस समय के मदनमोहन के विचारों को सुनने वाले सज्जनों को यह देखकर सचमुच आश्चर्य होता है कि मालवीयजी के सपने के सत्य हो जाने पर भी उसी विश्वविद्यालय में आज भी विलायती डिग्री की धूल मस्तक पर धारण की जा रही है। यह सृष्टि कम उलट गई, यह सचमुच अचम्भे की बात है। हाँ, तो हिन्दूविश्वविद्यालय की भावना मन और हृदय से निकलकर बाहर आ चुकी थी और सन् १९०५ ई० की अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा के अवसर पर काशी में महाराज बनारस के सभापतित्व में मिण्टो हाउस में होने वाली सभा में वह प्रत्यक्ष स्वरूप धारण करने लगी थी। उसको जीवित रखने के लिए यही सोचा गया कि कोई ऐसा पत्र निकाला जाय जो हिन्दू विश्वविद्यालय की कथा निरन्तर छेड़ता रहे जिससे लोग पुराने अभ्यास के अनुसार एक कान से सुनकर दूसरे से निकालने न पावें।

अकस्मात सन् १९०७ ई० का वसन्त अपने साथ-साथ भारत का 'अभ्युदय' भी लाया। वसन्त पञ्चमी के शुभ दिन पर 'अभ्युदय' का जन्म हुआ। प्रसिद्ध विद्वान और लेखक पण्डित बालकृष्ण भट्ट जी ने ही उसका नामकरण किया। उत्पन्न होते ही यह बालक अभ्युदय मालवीयजी को सौंप दिया गया। उसके बचपन से ही चरम तक मालवीयजी ने उसे पाला, पोसा और चलना सिखाया। दूध के दाँत गिरने से पहले ही इस बालक ने धूम मचा दी। उस धूम का अर्थ तो यही था कि गङ्गा के तट पर जो सरस्वती मन्दिर बनवाने की वे कल्पना कर रहे थे वह कल्पना प्रत्यक्ष जगत में आ जाय। पर यह समाचार-पत्र, देश और समाज दोनों की नाड़ी खोलने का काम भी अभ्युदय ने अपने सिर ले लिया। अभ्युदय हो तो ठहरा। पर यह बालक बड़ा बहुधन्धी निकला। थोड़े ही दिनों में इसने अपने पालक की अँगुलियाँ रिक्त कर दीं। मालवीयजी के चरम पश्चात प्रान्तीय कौंसिल के सदस्य हो गए और 'अभ्युदय' श्रीपुरुषोत्तमदास टण्डनजी के हाथों में सौंप दिया गया। वे तो भली भाँति नहीं सँभाल पाए किन्तु पण्डित सत्यानन्द जोशीजी ने इसे सँभाला और सन् १९१० ई० से सुप्रसिद्ध लेखक पण्डित कृष्णकान्त मालवीयजी ने इसकी बागडोर अपने हाथ में ली। बीच-बीच में पण्डित कृष्णकान्त मालवीयजी के स्थान पर स्वर्गीय श्रीगणेशशङ्कर विद्यार्थी और प्रसिद्ध लेखक पण्डित वेङ्कटेशनारायण तिवारी को सहयोग भी प्राप्त हुआ है। आजकल पण्डित कृष्णकान्त मालवीय के सुपुत्र पण्डित पद्मकान्त मालवीय के सम्पादकत्व में यह पत्र निकल रहा है। आरम्भ में अभ्युदय सप्ताह में एक ही बार दर्शन देता रहा, किन्तु फिर सन् १९१५ ई० से यह दैनिक हो गया और फिर कभी यह सप्ताहिक अथवा साप्ताहिक होकर बराबर निकलता आ रहा है।

'अभ्युदय ने कभी किसी के आगे सिर नहीं झुकाया और साहस होकर सब बात कहने में कभी सङ्कोच नहीं किया। इसी कारण 'अभ्युदय' सरकार की आँखों में बड़ा खटका और कई बार इससे नकद (जमानत) दण्ड भी, कई बार संकट उपस्थित भी हुए और अभ्युदय महीनों पर्यन्त बन्द होकर पड़ा रहा। इस पत्र की नीति उसके नाम में ही छिपी हुई है। उसकी नीति है 'अभ्युदय'। जिस प्रकार हो अपने धर्म, देश, समाज, जाति, साहित्य और लोक का अभ्युदय करे।

'लीडर'

लॉर्ड कर्जन भारतवासियों की स्मृति में बहुत दिनों तक जीवित रहेंगे। उन्होंने सन् १९०५ ई० में बङ्गाल के दो टुकड़े कर दिए कि उसका केवल बङ्गाल ही नहीं, सारा हिन्दुस्तान काँप उठा

और उस कम्पन ने एक बार अंगरेजी राज्य की जड भी बडे भटके से भकझोर दी। सोता हुआ सिंह जब जागकर गरज उठता है तो उससे एक बार तो सारा जंगल दहल सा उठता है। लॉर्ड कर्जन ने सारे भारत का घोर अपमान किया। उस ठोकर से हिन्दुस्तान के हृदय में चिरकाल से विश्राम करनेवाले आत्म-सम्मान को भी ठेस लगी और इसीलिए वह ज्वालामुखी के समान भभक उठा। धूल भी ठोकर मारने से सिर पर चढ जाती है जिस पर हम तो मनुष्य थे समझ सकते थे।

ऐसी दशा में एक दैनिक अंगरेजी पत्र की आवश्यकता पड़ी। मालवीयजी के परम उद्योग से २४ अक्तूबर सन १९०९ ई० को विजयादशमी के दिन प्रयाग से सबका नेतृत्व करने के लिए 'लीडर' निकला। लीडर में नई मशीन लगाने के समय स्वयं मालवीयजी ने उसका इतिहास इस प्रकार बताया था —

'लीडर' के स्थापित होने के पूर्व एक दैनिक समाचार-पत्र की इलाहाबाद में बड़ी आवश्यकता जान पडती थी। सन १८७९ ई० में स्वर्गीय पण्डित अयोध्यानाथजी ने 'इण्डियन हेराल्ड' निकाला और उस पर बड़ा धन भी व्यय किया। वह पत्र तीन वर्ष तक चला और अभाग्यवश उसके पश्चात बन्द हो गया। लीडर के स्थापित होने का एक कारण यह भी था। मैंने वकालत छोड़ने का निश्चय कर लिया था और उस समय मेरा यह विचार था कि सार्वजनिक कार्यों से भी अलग हो जाऊं जिससे हिन्दू विश्वविद्यालय का कार्य ठीक प्रकार से कर सकूं। उस समय मेरे मन में आया कि यदि मैं बिना एक पत्र स्थापित किए सार्वजनिक जीवन से अलग होता हूं तब मैं अपने प्रान्त के प्रति अपना धर्म नहीं निबाहता हूं। मुझे उसकी आवश्यकता इतनी अधिक और अनिवार्य जान पड़ी कि मैंने विचार किया कि सार्वजनिक जीवन से अलग होने से पहले एक पत्र अवश्य यहाँ स्थापित हो जाना चाहिए। मैंने इस पर कुछ मित्रों से बात चीत की और उन्होंने प्रसन्नता से उसके लिए धन दे दिया। आरम्भ में इसके लिए चालीस हजार रुपया जुटा। इतना रुपया एक दैनिक पत्र चलाने के लिये बहुत कम था। किन्तु मुझे अपने उन मित्रों पर विश्वास था जिन्होंने सहायता करने को कह दिया था और वह आशा सफल भी हुई। 'लीडर' ने निःस्वार्थ भाव से देश की और प्रान्त की बड़ी लगन से सेवा की है। इसकी नीति से बहुत लोगों का सदा मतभेद रहा है और ऐसा रहेगा किन्तु उसके कारण उसकी सेवा में कोई संदेह नहीं कर सकता। शायद ही कोई ऐसा पत्र हो जो सभी प्रश्नों पर अपने मित्रों के विचार प्रकट कर सके। श्री चिन्तामणि और पंडित कृष्णाराम मेहता दोनों लीडर के प्राण हैं और दोनों ने बांटकर उसे चलाने का सौभाग्य प्राप्त किया है। लीडर के बढ़ते हुए प्रभाव को और उसकी सेवाओं को सारे प्रान्त ने स्वीकार किया है। आपको स्मरण होगा जब असहयोग आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ तब मेरे मित्र पंडित मोतीलाल नेहरू ने इंडिपेण्डेण्ट पत्र चलाया जिसमें वे अपने विचार और लीडर से मतभेद रखनेवाले विचार फैला सकें। उस पर दो लाख पचास हजार रुपया व्यय किया गया, जिसमें से एक लाख रुपया स्वयं पण्डित मोतीलाल ने दिया और पचास हजार श्री जयकर ने दिया था। सरकारी अधिकारियों ने भी यह बात स्वीकार की है कि 'लीडर' सार्वजनिक प्रश्नों को न्यायोचित दृष्टि से विचार करता है।'

श्री नरेन्द्रनाथ गुप्त और श्री सी० वाई० चिन्तामणि उसके सम्पादक मण्डल में नियुक्त हुए। एक धुर पूर्व के बङ्गाली थे तो दूसरे धुर दक्षिण के मद्रासी थे। जब 'लीडर' स्थापित हुआ था तब कुछ लोगों ने भविष्यवाणी की थी कि यह असमय की रागिनी है कोई सुनेगा नहीं। पत्र शीघ्र ही बन्द हो जायगा। कोई लोग कहते थे कि इसके सम्पादक और अधिकारी शीघ्र ही किसी विपत्ति में फसेंगे। उस समय के प्रयाग के कमिश्नर और पायोनियर पत्र ने बोलियां कसी कि लीडर इतना सज्जन और भला है कि अधिक दिनों तक नहीं ठहरेगा। किन्तु इन पिछले वर्षों ने उन सारी भविष्यवाणियों

का झूठा सिद्ध कर दिया। इसकी सारी सफलता का श्रेय इसके जन्मदाता और युवकों में उत्साह का सञ्चार करनेवाले पूज्य पण्डित मदनमोहन मालवीयजी को है। लीडर के इतिहास की एक लम्बी विपदा भरी कहानी है। उसके जन्म काल के डेढ़ वर्ष के भीतर ही उसकी पूँजी समाप्त होने को आ गई। यहां तक की जब बङ्क में केवल पांच सहस्र रुपया शेष रह गया था तब भी सञ्चालकों की सम्मति से साहस करके लीडर का अङ्क निकाला जा रहा था। किन्तु ऐसी दशा कब तक चल सकती थी। निदान उसका कारबार समेटनेके लिये एक दिन भी निश्चय कर दिया गया। किन्तु इस घोर निराशा में भी एक प्रकाश दीप पंडित मदनमोहन मालवीय थे जो इस समय अपने प्राणों से प्रिय महान हिन्दू विश्वविद्यालय का व्रत लेकर देश में घूम घूम कर धन बटोर रहे थे। जब उनसे लीडर की इस दशा का वर्णन किया गया तो उनके मुख से आत्म विश्वास से भरे शब्द निकले—"दि लीडर विल नौट डाइ" ('लीडर नहीं मर सकता।') उनकी उस भाषा के प्रकाश ने निराशा के अन्धकार में उजाला कर दिया और तब से 'लीडर' सदा के लिये बन्द होने के बदले दिन-दूनी रात चौगुनी उन्नति करता गया। सन १९२६ ई० में उसके अपने नये भवन बने और सन १९२९ ई० में उसके लिये नई छापे की कलें विदेश से मँगाई गईं और उसके साथ एक हिन्दी का साप्ताहिक 'भारत' (अब दैनिक भारत) भी प्रकाशित होने लगा।

पंडित मोतीलाल नेहरू 'न्यूज पेपर्स लिमिटेड' के अन्तर्गत 'लीडर' के प्रथम अध्यक्ष हुए। इसके पश्चात पूज्य मालवीयजी दस वर्ष तक उसके अध्यक्ष रहे। उनके पश्चात सर तेजबहादुर सप्रू, श्री सच्चिदानन्द सिनहा, श्री ब्रजनारायण गुर्टू और मुंशी ईश्वरशरण क्रम से इसके अध्यक्ष चुने गये और इसके सहायक तथा भाग्यकर्त्ता रहे। इसके अन्य उत्साही प्रारम्भिक सहायकों में पंडित बलदेवराम दवे और डाक्टर सतीशचन्द्र बनर्जी प्रमुख थे। बनर्जी की असामयिक मृत्यु से देश और प्रयाग नगर को अत्यन्त उदार और उत्साही समाज सेवक से वंचित होना पड़ा। इसके पश्चात सङ्कट-काल में लीडर का हाथ बटाने वाले काशी के महाराजा मोतीचन्द और बाबू गोविन्ददास भी थे। सर तेज के सरकारी लौ मेम्बर नियुक्त होने पर काशी के रायकृष्णजी चेयरमैन बन गए।

प्रारम्भ में इसके सम्पादक थे सी० वाइ० चिन्तामणि जो अट्ठारह अट्ठारह घण्टे और कभी कभी बीस-बीस घण्टे तक काम करना पड़ता था, उस समय वे ही उसके कर्त्ता धर्त्ता थे, वे ही सम्पादक उप-सम्पादक मन्त्री, मैनेजर, मुद्रक, प्रकाशक सभी कुछ थे। लीडर उनके जीवन का एक अंग हो गया और यह प्रसिद्ध हो गया कि 'लीडर चिन्तामणि है और चिन्तामणि लीडर है।' श्री चिन्तामणि का प्राण लीडर था और लीडर के प्राण भी चिन्तामणि थे। सन् १९४० में सर सी० वाई० चिन्तामणि की मृत्यु हुई और श्री कृष्णाराम महता ने भार अपने ऊपर ले लिया। इसके आरम्भिक जीवन में ही इसके दो-तीन लेखों पर सरकार की वक्रदृष्टि पड़ी। पर उनमें विद्रोह की भावना का लेश भी न था इसलिये सरकार का वह लक्ष्य निरर्थक गया। इसके दो वर्ष पश्चात फिर एक चेतावनी मिली। श्री गोखले ने इसमें भाग लेकर सर विलियम वेडरबर्न को लिखा, जिन्होंने तत्कालीन भारत सरकार के मन्त्री लौर्ड क्र्यू और श्री मौण्टेग्यू से मिलकर सब प्रकार का आश्वासन प्राप्त किया और विपत्ति टल गई।

लीडर की नीति सदा स्वतन्त्र-सी रही। इसने समय पड़ने पर किसी भी सार्वजनिक नेता या संस्था की कड़ी-से कड़ी आलोचना करने में सङ्कोच नहीं किया। इसके संस्थापक पण्डित मदनमोहन मालवीय से लगाकर इसके अध्यक्ष पण्डित मोतीलाल नेहरू, समय समय पर गांधीजी महात्मा यहां तक कि महात्मा

गाधी भी इसकी आलोचना से नही बच पाए। बहुत से लोग इसके सम्पादन से इसीलिए निडर थ कि वे ऐसी बातें क्या करत ह। किन्तु सम्पादक को अपना दायित्व समझकर किसी क वक्तव्य का सकोच करके अपने विवेक की हत्या नही करना चाहिए। इस बात का कौन नही स्वीकार करगा कि लीडर के सम्पादक श्री चिंतामणि उन इन गिन लोगा में थ जो समय का गत का बहुत हा भलो प्रकार समझते थे और जो चलते फिरते विश्वकोश मान जाते थे।

'मर्यादा

लीडर की स्थापना के एक वर्ष पीछे ही मालवीयजी ने मर्यादा नामक मासिक पत्रिका निकलवाने का प्रबन्ध किया। अगरेजी पढ़ा लिखा जनता के लिये तो 'लीडर पर्याप्त था पर हिन्दी समझने वाले लोगो को भी तो बुद्धि का भोजन मिलना चाहिए था। मर्यादा में बहुत दिनों तक राजनीतिक समस्याओ पर योग्यतापूर्ण निबन्ध लिखे गए।

हिंदुस्तान टाइम्स'

पहले कुछ सिक्ख सज्जनो ने दिल्ली से 'हिन्दुस्तान टाइम्स' नामक अगरेजी पत्र निकाला था पर उसकी व्यवस्था ठीक नही थी और उसका प्रचार भी कम था। मालवीयजी ने सन १६२४ ई० म वह पत्र अपने हाथ म ले लिया और उसकी सुव्यवस्था कर दी। श्री पोथान जोसफ उसके सम्पादक हुए और उन्होने बडी योग्यता से अपना काम निबाहा। उसके पश्चात महात्मा गांधी के सुपुत्र श्री देवदास गांधी इसके व्यवस्थापक हुए थ और हिंदुस्तान नामक एक हिंदी पत्र भी इसी क साथ निकलने लगा था। यह दिल्ली का अगरेजी दैनिक हिंदुस्तान टाइम्स' भी मालवीयजी की प्रेरणा स फला-फूला और थोड हा दिनों म इस महापुरुष के आशीर्वाद ने उसे वह पद दिला दिया जिस पर आज उसे अभिमान ह।

सनातन धर्म

२० जुलाई सन १६३३ ई० को गुरुपूर्णिमा के अवसर पर साप्ताहिक सनातनधर्म' नामक पत्र पुण्यश्लोक मालवीयजी का सरक्षता म काशीहिन्दू विश्वविद्यालय स स्व० पण्डित गणेशदत्त आचार्यजी क प्रबन्ध में निकला जो सन १६४० तक सनातनधर्म का निरन्तर प्रचार करता रहा। उसमें धार्मिक विषयो के अतिरिक्त विज्ञान कला-कौशल इतिहास अर्थशास्त्र समाज साहित्य इत्यादि सभी विषयो पर महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित होते रहे यह समाचारपत्र नहीं 'विचारपत्र' था। प्रारम्भ म छह महीने तक इसका सम्पादन पण्डित भुवनेश्वरनाथ मिश्र माधव ने बडी योग्यता के साथ किया। उसके पश्चात अन्त तक आचार्य पण्डित सीताराम चतुर्वेदी तथा पण्डित गयाप्रसाद ज्योतिषी ही उसका सम्पादन करते रहे।

जब सन १८६६ ई० में श्री सच्चिदानन्द सिन्हा ने हिन्दुस्तान रिव्यू चलाया उस समय भी मालवीयजी ने उसको सब प्रकार से अमूल्य सहायता की और सन् १६०३ ई० म उनके चलाए हुए दूसरे पत्र 'इण्डियन पीपिल' की भी सहायता की।

पत्र-द्वारा जनता में विवेक का प्रचार करने में मालवीयजी का बड़ा विश्वास था। प्रसग म एक बात और स्मरण रखने की ह हिंदी ससार में 'मालवीयजी की हिंदी' का एक अलग ही स्थान

स्त्रियों का सम्मान करना चाहिए।

दुखियों पर दया करनी चाहिए।

उन जीवों को नहीं मारना चाहिए जो किसी पर चोट नहीं करते। मारना उनको चाहिए जो आततायी हों अर्थात् जो स्त्रियों पर या किसी दूसरे के धन या प्राण पर वार करते हों या जो किसी के घर में आग लगाते हों। यदि ऐसे लोगों को मारे बिना अपना या दूसरों का प्राण या धन न बच न सके तो उनको मारना धर्म है।

स्त्रियों और पुरुषों का निष्कपटपन, सचाई, चोरी का त्याग, ब्रह्मचर्य, धीरज और क्षमा का सदा अमृत के समान सेवन करना चाहिए।

इस बात को कभी न भूलना चाहिए कि भले कर्मों का फल भला और बुरे कर्मों का फल बुरा होता है और कर्मों के अनुसार ही प्राणी को बार-बार जन्म लेना पड़ता या मोक्ष मिलता है।

घटघट में बसने वाले भगवान विष्णु का, सर्वव्यापी ईश्वर का सुमिरन करना चाहिए, जिनके समान दूसरा कोई नहीं—जो कि एक ही अद्वितीय हैं, और जो दुःख और पाप के हरनेवाले शिव-स्वरूप हैं, जो सब पवित्र वस्तुओं से अधिक पवित्र, जो सब मङ्गल कामों के मङ्गल स्वरूप हैं, जो सब देवताओं के देवता हैं और जो समस्त संसार के आदि, सनातन, अज, अविनाशी पिता हैं।

सनातन धर्मी, आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी, सिक्ख, जैन और बौद्ध आदि सब हिन्दुओं को चाहिए कि अपने अपने विशेष धर्म का पालन करते हुए एक दूसरे के साथ प्रेम और आदर से बर्तें।

अपने विश्वास में दृढ़ता, दूसरे की निन्दा का त्याग, मतभेद में सहनशीलता (चाहे वह धर्म सम्बन्धी हो या लोक-सम्बन्धी) और प्राणीमात्र से मित्रता रखनी चाहिए।

सुनो इस धर्म के सर्वस्व को सुनकर इसके अनुसार आचरण करो। जो काम अपने को बुरा या दुखदायी जान पड़े उसे दूसरे के साथ नहीं करना।

मनुष्य को चाहिए कि जिस काम को वह नहीं चाहता है कि कोई दूसरा उसके साथ करे, उस काम को वह भी किसी दूसरे के प्रति न करे। क्योंकि वह जानता है कि यदि उसके साथ कोई ऐसी बात करता है जो उसको प्रिय नहीं है, तो उसको कैसी पीड़ा पहुँचती है।

मनुष्य को चाहिए कि न कोई किसी से डरे न किसी को डर पहुँचावे। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार आर्य अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों की वृत्ति में दृढ़ रहते हुए ऐसा जीवन जीवे जैसा सज्जन को जीना चाहिए।

हर एक को उचित है कि यह चाहे कि सब लोग सुखी रहें, सबका भला हो, कोई दुःख न पावे, प्राणियों के दुःख दूर करने में तत्पर यह दया बलवानों की शोभा है। धर्म के अनुसार चलनेवालो को कभी इसका त्याग नहीं करना चाहिए।

देश की उन्नति के कामो में देशभक्त पारसी मुसलमान, ईसाई यहूदियो को साथ मिलकर भी काम करना चाहिए।

यह भारतवर्ष, जो हिन्दुस्तान के नाम से प्रसिद्ध है, बड़ा पवित्र देश है। धन, धर्म, सुख का देनेवाला यह देश सब देशों से उत्तम है।

'कहते हैं कि देवता लोग यह गीत गाते हैं कि वे लोग धन्य हैं जिनका जन्म इस भारत भूमि में में होता है, जिनमें जन्म लेकर मनुष्य स्वर्ग का सुख और मोक्ष दोनों को पा सकता है।'

यह हमारी मातृभूमि है, हमारी पितृभूमि है। जो लोग सुजन्मा हैं—जिनके जीवन बहुत अच्छे हुए हैं, राम कृष्ण, बुद्ध आदि पुरुषों के, महात्माओं के आचार्यों के, ब्रह्मर्षियों और राजर्षियों के, गुरुओं के, धर्मवीरों के, शूरवीरों के दानवीरों, के, स्वतन्त्रता के प्रेमी देशभक्तों के उज्वल कामों की यह कर्मभूमि है। इस देश में हम को परम भक्ति करनी चाहिए और धन से भी इसकी सेवा करनी चाहिए।

जिस धर्म में परमात्मा ने गुण और कर्म के विभाग से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण उपजाए और जिसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों के साधन में सहायक मनुष्य का जीवन पवित्र बनानेवाले ब्रह्मचर्य, गृहस्थ वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम स्थापित हैं, सब धर्मों से उत्तम इसी धर्म को हिन्दू धर्म कहते हैं। जो लोग सारे संसार का उपकार चाहते हैं उनको उचित है कि इस धर्म की रक्षा और इसका प्रचार करें।

यह लोगों का विश्वास है और यह विश्वास ठीक भी है कि मालवीयजी पक्के कट्टर सनातनधर्मी थे। पर मालवीय जी का पक्का 'सनातनधर्म' कोई सँकरी कोठरी नहीं है जहाँ अपने अतिरिक्त कोई समा ही न सके। वह तो ऐसा बड़ा लम्बा चौड़ा बाड़ा है जिसमें आप भी रहें और बाहरवाले भी धड़ प्रेम से आकर बैठें। उनका हृदय उस मन्दिर के समान था जहाँ ऐसे देवता की मूर्ति थी जिससे सब लोग पूजन में आनन्द प्राप्त करते हों। न जाने कितनी बार सिक्खों के बीच में बैठ कर मालवीय जी ने उनके गुरुओं की वीरता का वर्णन करके बार सिक्खों को बताया, आर्य समाज के उत्सवों में उन्होंने स्वामी दयानन्दजी की हिन्दू सेवा का वर्णन करने में उनका महत्त्व समझाया। १४ अक्टूबर सन १६३६ ई० को लाहौर के डी० ए० वी० कालेज की जुबिली के अवसर पर आर्य समाज के नेताओं ने जब मालवीय जी को सभापति के लिए निमन्त्रित किया तो रुग्ण होने पर भी मालवीयजी वहाँ पहुँचे और पण्डाल में पहुँच कर सबसे पहले महात्मा हंसराजजी को गले लगाया और अपने भाषण में कहा कि स्वामी दयानन्दजी ने ऐसे समय अपना काम प्रारम्भ किया जब सब ओर से अविद्या का अन्धकार फैला हुआ था यह उनकी तपस्या और देश प्रेम ही फल था कि उन्होंने जीते जी वैदिक सभ्यता के दर्शन किये क्योंकि वैदिक सभ्यता ही संसार की सबसे ऊँची सभ्यता थी।'

मालवीयजी की धार्मिक भावना जहाँ एक ओर व्यक्तिगत साधना में बड़ी कठोर थी वहीं सामाजिक व्यवहार में अत्यन्त उदार थी। वे कभी युग से पीछे नहीं रहते थे, रहना भी नहीं चाहते थे किन्तु उन्होंने सदा यह प्रयत्न किया कि विरोध करके, संघर्ष उत्पन्न करके, सामाजिक विषमता को प्रोत्साहन देकर कोई काम न किया जाय। अपनी धार्मिक विश्वास को अशोभन, अव्यवहार्य अथवा अपवाद अमान्य परिणामों में भी यदि कोई परिवर्तन करना हो तो उसमें विद्वानों की सम्मति ले ली जाय और वे जैसा निर्णय दें वही किया जाय। स्वयं उन्हीं का उस जाति में जब सभी मालवीय ब्राह्मण परस्पर सन्निकट सम्बन्धी हो गए और वे आपस में विवाह में बाधाएँ आने लगीं तब उन्होंने पण्डितों की सभा, बुलाई और जब पण्डितों ने मिलकर सवर्ण विवाह की स्वीकृति दे दी तब उन्होंने अपनी पोती और अपने पोते का विवाह अन्य ब्राह्मण में करने की स्वीकृति दी। इसस पूर्व भी जब उनके

'कहते ह कि देवता लोग यह गीत गाते हैं कि वे लोग धन्य हैं जिनका जन्म इस भारत भूमि में में होता ह, जिनमें जन्म लेकर मनुष्य स्वग का सुख और मोक्ष दोनो को पा सकता ह।'

यह हमारी मातृभूमि ह, हमारी पितृभूमि ह। जो लोग सुकर्मा हुए—जिनके जीवन बहुत प्रच्छ हुए ह, राम, कृष्ण, बुद्ध आदि पुरुषो के महात्माओं के आचार्यों के, ब्रह्मर्षियो और राजर्षियो के, गुरुओ के, धर्मवीरो के, शूरवीरो के, दानवीरो के, स्वतन्त्रता के प्रेमी देश भक्तो के उज्वल कामो की की यह कर्म भूमि ह। इस देश में हम को परम भक्ति करनी चाहिए और मन से भी इसकी सेवा करनी चाहिए।

जिस धर्म म परमात्मा न गुण और कर्म के विभाग से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वश्य और शूद्र ये चार वर्ण उपजाए और जिसमें धर्म, अर्थ काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों के साधन में सहायक मनुष्य का जीवन पवित्र बनानेवाले ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास ये चार आश्रम स्थापित ह सब धर्मों स उत्तम इसी धर्म को हिन्दू धर्म कहत ह। जो लोग सारे ससार का उपकार चाहते ह उनको उचित ह कि इस धर्म की रक्षा और इसका प्रचार करें।

यह लोगो का विश्वास ह और यह विश्वास ठीक भी ह कि मालवीयजी पक्के कट्टर सनातनधर्मी थे। पर मालवीय जी का पक्का 'सनातनधर्म कोई सँकरी कोठरी नहीं ह जहाँ अपने अतिरिक्त कोई समा ही न सके। वह तो ऐसा बडा लम्बा चौडा बाडा ह जिसमें आप भी रहें और बाहरवाले भी यह प्रेम से आकर बठे। उनका हृदय उस मन्दिर के समान था जहाँ ऐसे देवता की मूर्त्ति थी जिसके सब लोग पूजन में आनन्द प्राप्त करते हो। न जाने कितनी बार सिक्खो के बीच में बठ कर मालवीय जी ने उनके गुरुओ की वीरता का वर्णन करके वीर सिक्खो को रुलाया, आर्य समाज क उत्सवो में उन्होंन स्वामी दयानन्दजी की हिन्दू सेवा का वर्णन करन में उनका महत्त्व समझाया। २४ अक्तूबर सन १९३६ ई० को लाहौर के डी० ए० वी० कालेज की जुबिली के अवसर पर आर्य समाज के नेताओ न जब मालवीय जी को सभापति के लिए निमन्त्रित किया तो रुग्ण होने पर भी मालवीयजी वहाँ पहुँचे और पण्डाल में पहुँच कर सबसे पहले महात्मा हसराजजी को गले लगाया और अपने भाषण म कहा कि स्वामी दयानन्दजी ने ऐसे समय अपना काम प्रारम्भ किया जब सब ओर से अविद्या का अन्धकार फला हुआ था यह उनकी तपस्या और देश प्रेम ही फल था कि उन्होंन जीते जी वदिक सभ्यता के दर्शन किये क्योंकि वदिक सभ्यता ही ससार को सबसे ऊँची सभ्यता थी।'

मालवीयजी का धार्मिक भावना जहाँ एक ओर व्यक्तिगत साधना में बडी कठोर थी वहीं सामाजिक व्यवहार में अत्यन्त उदार थी। वे कभी युग से पीछे नहीं रहते थे, रहना भी नहीं चाहते थे किन्तु उन्होंने सदा यह प्रयत्न किया कि विरोध करके, सघर्ष उत्पन्न करके सामाजिक विषमता को प्रोत्साहन देकर कोई काम न किया जाय। अपनी धार्मिक विश्वास की मर्शोधन अन्यव्यवहार्य अथवा अथवा अशगन परिपाटी में भी यदि कोई परिवर्तन करना हो तो उसमें विद्वानों की सम्मति ले ली जाय और वे जसा निर्णय दें वही किया जाय। स्वय उन्हीं की उप जाति में जब सभी मालवीय ब्राह्मण परस्पर सन्निकट सम्बन्धी हो गए और कन्याओ के विवाह में बाधाएं आने लगी तब उन्होंन पण्डितो की सभा बुलाई और जब पण्डितो ने विचारकर सवर्ण विवाह की स्वीकृति दे दी तब उन्होंने अपनी पौत्री और अपने पौत्रो का विवाह अन्य ब्राह्मण में करने की स्वीकृति दी। इसस पूर्व भी जब उनके

पुत्र गोविन्द मालवीय के विवाह के समय उनके परिवार में यह समस्या खड़ी हो गई थी उस समय मालवीयजी ने उसका घोर विरोध किया था क्योंकि तब तक सामूहिक रूप से सवर्ण विवाह के लिए व्यवस्था नहीं मिल पाई थी।

एक बार मालवीयजी से कुछ मित्रों और शिष्यों ने आकर निवेदन किया कि बहुत से ऐसे परिवार हैं जिनके नाम तथा आचार व्यवहार तो हिन्दुओं के समान हैं किन्तु जो अपने को कहते मुसलमान हैं और वे हिन्दू बनने को भी उद्यत हैं। झट उन्होंने पण्डितों की सभा बुलाई, उनकी व्यवस्था ली और शुद्धिसभा स्थापित कर दी। आज उस सभा के कारण लगभग तीन सहस्र परिवार हिन्दू होकर गौ रक्षा और धर्म रक्षा में सहायता दे रहे हैं।

गांधीजी ने जब हरिजन-आन्दोलन प्रारम्भ किया था उस समय भी मालवीयजी ने अन्त्यजों के उद्धार के लिए पण्डितों से व्यवस्था लेकर धर्म शास्त्रानुमोदित अन्त्यजोद्धारविधि का निर्माण किया और अछूत कहलानेवाली जातियों के उद्धार का ऐसा मार्ग खोज निकाला जो पूर्णतः धर्मशास्त्रविहित था। यद्यपि उस समय बहुत से सनातनधर्मी मित्रों ने हठपूर्वक अछूतों का बहिष्कार ही करने का निर्णय किया था किन्तु मालवीयजी उनसे यही कहते थे कि यदि आप शास्त्र को प्रमाण मानते हैं तो उसे पूर्ण रूप से शाश्वत रूप से मानिए और इसी के आधार पर उन्होंने काशी, प्रयाग, कलकत्ता और नासिक में अछूतों का मन्त्रोपदेश देकर उन्हें समत्व का पद प्रदान किया और उनका दीक्षा संस्कार किया।

इधर बौद्धधर्म का भी पर्याप्त आन्दोलन हुआ। सारनाथ ही उसका प्रथम केन्द्र है जहाँ गौतम बुद्ध ने सर्वप्रथम अपने धर्म चक्र का प्रवर्तन किया था। वहाँ के नवीन मन्दिर के संस्थापक स्वर्गीय अनागारिक धर्मपाल भिक्षु, मालवीयजी के बड़े मित्र थे। मालवीयजी कई बार उनसे मिलने सारनाथ गए थे। इसीलिए बौद्धों ने भी मालवीयजी का अनेक बार सम्मानित किया। बिड़लाजी ने सारनाथ में बौद्ध यात्रियों के लिए आर्य धर्मशाला नामक जो विशाल भवन बनवाया है उसकी नींव भी मालवीयजी के हाथों ही पड़ी थी।

इतना ही नहीं मुसलमान और ईसाइयों की सभा में भी मालवीयजी का बड़ा सम्मान हुआ और उनके अनेक भाषण हुए।

मालवीयजी अपने धर्म की निन्दा तो सुन ही नहीं सकते थे साथ ही दूसरे धर्म की निन्दा भी नहीं सह सकते थे। एक बार काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आर्य्य समाज का उत्सव हो रहा था। उसमें एक उपदेशक महोदय ने इस्लाम तथा ईसाई मत पर जो मन में आया कहा। मालवीयजी को यह बात बुरी लगी और उन्होंने प्रबन्धकों से यह कहला भेजा कि हिन्दू विश्वविद्यालय में ऐसे लोगों के व्याख्यान नहीं होने चाहिए जिनकी वाणी संयत न हो और जो दूसरे धर्मों और धर्मप्रवर्तकों की निन्दा करें।

हमारे देश में धार्मिक शास्त्रार्थ बहुत होते रहे हैं और हो रहे हैं किन्तु संभवतः इन शास्त्रार्थों में श्री शङ्कराचार्य और श्री मण्डन मिश्र के शास्त्रार्थ के समान निर्णय कभी नहीं मिला। बीच में बहुत शास्त्रार्थ होने लगे थे लोग इकट्ठा होते थे, जिधर हल्ला मचानेवाले अधिक होते थे वही दल जीत जाता था और उसके पश्चात् समाचार पत्रों में प्रकाशित होता था कि दोनों दल जीत गए और दोनों दल

हार गए। सब अपनी अपनी डफली पर अपना अपना राग गाते थे। कुशल है कि यह प्रथा अब समाप्त हो गई है। हमारे स्वातन्त्र्य आन्दोलन ने जहाँ स्वतन्त्रता प्राप्त कराने के लिये प्रबल उद्योग किया वहाँ उससे बड़ी भारी हानि यह भी हुई कि लोगों के हृदय से धार्मिक भावना लुप्त हो चली और धर्म प्रचार की सारी शक्तियाँ स्वतन्त्रता प्राप्ति में जुट गईं। अब स्वतन्त्र हो चुकने पर जो भयंकर भ्रष्टाचार व्याप्त है उसका कारण हो यह है कि हम लोग धर्म निरपेक्ष होने के कारण दया निरपेक्ष सत्य निरपेक्ष, शील निरपेक्ष, जीव निरपेक्ष और ईश्वर निरपेक्ष होकर केवल स्वापेक्ष रह गए। क्या ही अच्छा हो यदि इस समय पुनः सबका हृदय धार्मिक विषयों में मालवीयजी के समान हो कि अपना धर्म भी पालन करें और दूसरे के धर्म का आदर करना भी सीख जायँ। यदि इतनी धार्मिक सहनशीलता हम लोगों में आ जाय तो हमारी बहुत सी शक्तियाँ संगठित हो जायँ और अवसर पड़ने पर हम दूसरों को शिक्षा दें कि धर्म क्या है और जीवन में उसकी क्या आवश्यकता है।

कहा जाता था कि यदि किसी को धर्म के दर्शन करने हों, धर्म से खुलकर बातें करनी हों और धर्म की ज्योति लेनी हो तो जाकर मालवीयजी के दर्शन कर लें। बहुत से लोगों के हृदय में धर्म आकर निवास करता है पर मालवीयजी तो सशरीर धर्म थे जिनके आचार विचार, वेशभूषा और बोलचाल से धर्म की ज्योति छिटकती थी। उनकी वाणी इसीलिये प्रायः कह उठती थी—"सिर जावै तो जाय प्रभु मेरो धर्म न जाय।"

समाज की नींव : अस्पृश्य और मन्त्रदीक्षा

'सात कनौजिए नौ नौ चूल्हे' वाली कहावत तो सुनी ही जाती है पर 'तीन हिन्दू तेरह मत' वाली कहावत उससे भी पुरानी है। नन्दवंश की समाधि पर चाणक्य ने कूटनीति के बल पर जो राजनीतिक एकता का प्रासाद खड़ा किया था उसे महाराज अशोक को दया का नद ऐसा बहा ले गया कि उसके अवशेष खंडहरों ने घर में तो झगड़ा खड़ा कर ही दिया साथ ही उसने बाहरवालों को भी उसमें भाग लेने का निमन्त्रण दे दिया। इस राजनीतिक उथल-पुथल में 'जैसा राजा वैसी प्रजा' के अनुसार मनु और बुद्ध दोनों का राज्य साथ साथ चलता रहा। झूले की पेंगों के समान भारत के भोले भाले नर-नारी मनु के संस्कार और बुद्ध के साम्यमानवाद के बीच में झूलने लगे। जो बड़े थे जिनके हाथ में तलवार थी या जिनको भगवान् ने बुद्धि दिया या धन दिया था उन्हीं का राज्य था उन्हीं का बोलबाला था।

दीनता केवल पेट को ही भूखा नहीं रखती, वह बुद्धि और आत्मगौरव को भी भूखा रखती है, और इसीलिये निर्धन लोग चुप मारकर अपनी पीठ उघाड़ देते हैं जिस पर चारों ओर से अत्याचारियों के कोड़े बरसने लगते हैं। पहले तो कुछ पीड़ा अवश्य होती है पर फिर अभ्यास पड़ जाता है और कुछ दिनों में वह अभ्यास ऐसा दृढ़ हो जाता है कि वे उसे वैसे ही अपना धर्म मान लेते हैं जैसे बहुत से छात्र अध्यापक की बेंतों के इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि लाज-हया जाती रहती है। पिटने में उन्हें आनन्द आने लगता है और फिर दूसरे लोग उन्हें अभागा समझ कर उन्हें धकेल देते हैं पहाड़ से नीचे और उन्हें सिसक सिसक कर जीने के लिये ऊपर से कभी-कभी रोटी के दो टुकड़े डाल देते हैं। यही दशा हिन्दू समाज में शूद्रों की हुई।

कहावत है कि 'घर का जोगी जोगना आन गाँव का सिद्ध'। घर में तो गुणों का आदर होता नहीं। कोई कितना भी पढ़ लिख गया, हो यश पा गया हो पर घरवाले तुलसीदास को वही तुलसिया समझते हैं। शूद्रों को घर में तो कोई पूछ ही न सका पर बाहर से जो अतिथि—सचमुच वे अतिथि ही आए थे—आए उन्हें हिन्दुस्तान के हरे भरे मैदान में भरपेट भोजन और मीठा जल मिला और मिले रसीले मीठे फल—बस वे अपना पहाड़ी घर भूल कर और यहीं डेरा जमाकर बैठ गए। पर उन्हें अपनी रक्षा के लिये बड़े दल की भी आवश्यकता थी। उन्होंने साम, दाम, दण्ड और भेद, सभी प्रकार से यहाँ वालों को अपने दल में मिलाना प्रारम्भ किया। ऊँची जातिवाले तो भला उनकी चमक-दमक के चक्कर में आने क्यों लगे थे पर जो भूखे थे, पीड़ित व अपमानित थे, उन्हें जहाँ पेटभर भोजन मिला वहीं का गान करने लगे। हमारे ये अतिथि खुलकर दिल-फाड़ हमारे घर की नींव खोद-खोद कर अपना-अपना भवन उठा रहे थे, पर हम देखते हुए भी पीनक में पड़े पगुराते रहे। हमें यह समझ नहीं आई कि जिस दिन हमारी नींव ही नहीं रहेगी उस दिन हमारा यह भवन कहाँ खड़ा रहेगा। गोस्वामी तुलसीदासजी ने आकर बहुत समझाया, प्रताप शिवाजी और छत्रसाल भी अपने ढङ्ग से इस लूट को रोक कर उखड़ी हुई नींव बहुत कुछ जमा गए पर दशा बहुत बिगड़ गई। सिक्खों के कल्पनीय गुरुओं ने भी बनी सँभाल तो की पर न जाने क्यों और कैसे हमारे सिक्ख भाई हिन्दू समाज के विशाल भवन की एक कोठरी लेकर अलग हो गए और उसी की रक्षा में लग गए

मानो उनका पूरे भवन से कुछ भी नाता ही नहीं है।—अब उन्हें कौन समझाये कि यदि इस विशाल भवन पर कुछ भी आँच आई तो उनकी कोठरी भी आँच खाए बिना न रहेगी। यद्यपि १९४७ में देश विभाजन ने उन्हें पर्याप्त हानि पहुँचाई किंतु आज भी उनके कुछ नेता सिक्खिस्तान बनाने का अविवेक पूर्ण प्रस्ताव कर रहे हैं। आर्य्य-समाज ने केवल उपदेश मात्र ही नहीं किए वरन वह सचेष्ट होकर हिंदू भवन के निर्माण कार्य में जुट गया। जो ईंटें बाहर वाले खोग उठा ले गए थे उनमें से कुछ को तो उसने मकान में स मोद लगाया और जो उठाए लिए चले जा रहे थे उनमें बाध में ही छीन कर रख लिया। पर उसमें त्रुटि यही थी कि वह काम तो ठीक करता जाता था पर घर वालों को भी आलसी, अंधविश्वासी और ढोंगी कह कर चिढ़ाता जा रहा था इसलिए घर के बहुत से लोगों ने इसका साथ न दिया। हम समझते हैं कि यदि वह आपस की तू-तू मैं मैं बन्द हो जाती तो हम लोग संभवतः अपने मकान की रक्षा और भी सफल रीति से कर सकते। पहली छोड़ कर सीधी-सीधी बात यह है कि आर्य्य समाज ने जो शुद्धि का काम प्रारम्भ किया उसका बड़ा विरोध हुआ पर वह अपने पथपर डटा रहा। जिसका परिणाम यह हुआ कि स्वामी श्रद्धानन्द जैसे महापुरुष को धर्मान्ध मुसलमान की छुरी का आखेट बन जाना पड़ा। उधर सनातन धर्म गिरे हुए को उठाने में लजाता था, इसलिए वह चुपचाप एक ओर खड़ा यह सब देखता रहा।

कट्टर सनातनधर्मियों में मालवीयजी एक ऐसे महापुरुष निकले जिन्होंने बेचारे दीनों और पतितों की पुकार सुनी और उनकी सहायता को दौड़ पड़े। उन्होंने ही सब से पहले सन १९०९ ई० में निम्न वर्गों की शिक्षा के लिये कौंसिल में भाषण दिया था। सन १९२१ ई० के मोपला विद्रोह ने मालवीयजी को चौकन्ना कर दिया और उन्होंने हिन्दू महासभा संगठित करके हिंदुओं को एक डोरी में बाँध रखने का उद्योग किया। साथ ही उन्होंने देखा कि हमारे जो अछूत भाई हमारे हाथ से निकले चले जा रहे हैं उन्हें कोरे मौखिक प्रोत्साहन से सन्तोष नहीं देना चाहिए वरन कोई ऐसा भी उपाय किया जाय कि इनका भी उद्धार हो और साथ ही उनके मन में यह भाव भी हो कि समाज में हमारा भी कोई स्थान है और दुःख पड़ने पर हमारा भी सहायता करने वाला कोई है। इसलिये मालवीयजी ने शुद्धि का बीड़ा तो उठाया ही, साथ ही उन्होंने अपनी सनातनधर्म सभा में अस्पृश्यों को मन्त्रदीक्षा देने का भी प्रस्ताव स्वीकृत करा लिया। यह कोरा प्रस्ताव ही न रह गया वरन् सन १९२७ ई० में काशी में महाशिवरात्रि के दिन दशाश्वमेध घाट पर उन्होंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी को ॐ नमः शिवाय, ॐ नमो नारायण, ॐ रामाय नमः ॐ नमो भगवते वासुदेवाय आदि मन्त्रों की दीक्षा भी दी। दीक्षा लेनेवालों में ब्राह्मण भी थे और चाण्डाल भी थे।

वह दृश्य क्या कभी भूला जा सकता है कि सहस्रों पुरुष और स्त्री स्नान करके एकत्र हैं और मालवीयजी रेशम दुपट्टा ओढ़ कर एक एक व्यक्ति को मन्त्र और उपदेश दे रहे हैं और फिर उनसे वचन लेकर आशीर्वाद दे रहे हैं। जान पड़ता था मानो समुद्र की भीषण लहरों में पड़े हुए सैकड़ों सहस्रों प्राणियों को बचाने के लिये कोई दिव्य ज्योति सहस्रों हाथ बढ़ा कर उन्हें ऊपर उठा रही हो। वह उनका तेज देखने ही योग्य था।

३० दिसम्बर सन १९२८ ई० को कलकत्ता कांग्रेस हो रही थी। उधर मालवीयजी ने हावड़ा पुल के पास लाहाघाट पर मंत्र का मन्त्र दीक्षा देने की घोषणा कर दी। बड़ा हल्ला हुआ। मालवीयजी की यह बात बहुत से सनातनधर्मियों को अच्छी न लगी। वे सब उनपर इस प्रकार टूट पड़े मानो वे

कोई बड़ा भारी पाप करने जा रहे हो। एक व्यक्ति ने उस दृश्य का आखों देखा वर्णन करते हुए लिखा है —

"ता० ३० दिसम्बर सन् १९२८ ई० को प्रातःकाल कलकत्ते में गङ्गातट पर लोहाघाट नामक स्थान में पण्डित मालवीयजी—द्वारा सब हिन्दुओं को ॐकार के साथ दीक्षा देने की तैयारी की गई थी। एक शामियाने के नीचे होम और दीक्षा की व्यवस्था की गई। लगभग आठ बजे प्रातःकाल मालवीयजी दीक्षा-स्थान पर आ पधारे। दीक्षा लेनेवाले लोग इकट्ठा हो ही रहे थे कि कुछ मारवाड़ी सज्जन और कुछ प्राचीन विचार के पंडित बहुत से लोगों को साथ लेकर वहां आ धमके। वहाँ पहुँच कर उन्होंने खड़ा किया हुआ शामियाना गिरा दिया और होम तथा दीक्षा की सामग्री भी नष्ट भ्रष्ट कर दी। यह सब उपद्रव देख कर मालवीयजी गङ्गाजी के किनारे आकर वहाँ दीक्षा-कार्य्य करने लगे। परन्तु उपद्रवियों ने वहाँ भी उनका पीछा नहीं छोड़ा और उनके कार्य में बाधा डालने लगे। मालवीयजी ने उनसे कहा कि यदि कोई इस बारे में शास्त्रीय विरोध हो तो मैं आपके किसी भी पण्डित से शास्त्रार्थ करने को तैयार हूँ। इतने में उन्होंने मालवीयजी को घेर लिया और उनपर कीचड़ मट्टी फेंकने लगे। परन्तु मालवीयजी अत्यन्त शान्ति से और हँसते हुए उसे सहन करते रहे।

कुछ देर के पश्चात शान्ति हुई और एक पण्डित अपना विरोध स्थापित करने के लिये आगे बढ़े। विरोधी पक्ष की पूरी पण्डित मण्डली की आज्ञा से एक पण्डित ने लगभग तीन घण्टे तक व्याख्यान देकर अपना मत स्थापित किया। इसके पश्चात उनका उत्तर देने के लिये मालवीय जी खड़े हुए। उनके खड़े होते ही चारों ओर से जयजय कार की ध्वनि गूँज उठी। मालवीयजी ने विवाद के निर्णय के लिये विरोधी पण्डितों से पहले ही पूछ लिया। कि आप लोगों को कौन से ग्रन्थ मान्य हैं तदनुसार उन्होंने उनके एक एक प्रश्न का उत्तर उन्हीं ग्रन्थों के उद्धरणों के प्रमाण से दिया। मालवीयजी की विचार-सरणी लोगों को इतनी अच्छी लगी कि दर्शकों ने प्रचण्ड जयजय कार के द्वारा मालवीयजी का गौरव-वर्धन किया। लग भग दो बजे दिन को विरोधी पक्ष के लोग अपना-सा मुँह लेकर लौट गए।'

उसके पश्चात मालवीयजी ने फिर स्नान किया और शाम तीन बजेतक दीक्षा देते रहे। समय के अभाव से उस दिन केवल चार सौ व्यक्तियों को ही वे दीक्षा दे पाए।

उस अवसर पर हिन्दू महासभा के अध्यक्ष डा० मुञ्जे, श्रीमत्स्वामी सत्यानन्दजी, श्री पद्मराज जैन आदि अनेक नेता महामहोपाध्याय पण्डित प्रमथनाथ तर्कभूषण तथा बङ्गाल हिन्दू महासभा के अध्यक्ष तथा अन्य बहुत से स्वयंसेवक मालवीयजी के साथ प्रातःकाल से ही दीक्षा-समारम्भ समाप्त होने तक बराबर लगे रहे।

दीक्षा का क्रम यह था कि सभी दीक्षार्थी एक-एक करके स्नान करके आते थे, उनको पहले पञ्चगव्य भक्षण कराया जाता था और तब उनको 'ॐ नमः शिवाय', 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' ॐ रामाय नमः अथवा 'ॐ नमो नारायणाय' में से किसी मन्त्र की विधिपूर्वक दीक्षा दी जाती थी। इसके पश्चात जिस मन्त्र की दीक्षा दी जाती थी वह छपा हुआ मन्त्र तथा एक उत्तरीय वस्त्र उस व्यक्ति को ओढ़ने के लिये दिया जाता था। अन्त में चने और बताशे बाँट कर कार्य्य समाप्त किया जाता था।

फिर मन्त्र-दीक्षा

कुछ दिनों के पश्चात कलकत्ते में ही ६ जनवरी सन् १९२८ को दूसरा दीक्षा-समारम्भ हुआ था। इस बार दीक्षा-स्थान के चारों ओर पुलीस और स्वयं सेवकों का पूरा प्रबन्ध किया गया था। यह सब होते हुए भी जब पण्डितजी नदी में स्नान के लिये उतरे तब एक शिखा सूत्रधारी गुण्डा छुरा लेकर उनपर टूट पड़ा। परन्तु सौभाग्यवश पण्डितजी बाल-बाल बच गए और गुण्डा पकड़ लिया गया। उस दिन भी मालवीयजी ने सहस्रों अछूतों तथा अन्य हिन्दुओं को दीक्षा दी। उस दीक्षा समारम्भ में अनेक प्रतिष्ठित व्यक्तियों के अतिरिक्त कुछ अंगरेज सज्जन भी आ पहुँचे। यह दीक्षा कार्य्य प्रातःकाल नौ बजे प्रारम्भ होकर दिन के बारह बजे धूमधाम सहित निर्विघ्न समाप्त हुआ।

इसके अनन्तर प्रयाग और काशी में कई बार मालवीयजी ने मन्त्र-दीक्षा दी। १२ मार्च, सन् १९३६ ई० को मालवीयजी नासिक गए। वहाँ गोदावरी गंगा के रामेश्वरबहादुर घाटपर उन्होंने लगभग डेढ़ सौ हरिजनों को 'नमः शिवाय' मन्त्र की दीक्षा दी। वहाँ भी मालवीयजी का अपूर्व सम्मान हुआ और नगर की विभिन्न संस्थाओं की ओर से उन्हें अनेक मानपत्र दिए गए। मन्त्र-दीक्षा के विषय में बहुत से लोगों ने उनका विरोध किया पर मालवीयजी ने उस वैद्य के समान आचरण किया जो रोगी के लाभ के लिए उसकी गालियों की चिंता नहीं करता।

इससे पूर्व १ अगस्त सन् १९३३ ई० को महात्मा गान्धी ने हरिजन आन्दोलन आरम्भ कर दिया था, जिसका मुख्य उद्देश्य था—हरिजनों के लिये सार्वजनिक स्थानों का प्रयोग खुलवाना और मन्दिरों में उनका प्रवेश कराना। इसके लिये महात्मा गान्धी चाहते थे कि एक विधान बन जाय और हरिजन लोगों के लिये मन्दिर खुल जायँ। महात्मा गान्धी ने इस कार्य्य के लिये सारे भारत का दौरा किया। उन्हें स्थान-स्थान पर हरिजन आन्दोलन के लिये धन भी मिला और उसका सबसे बड़ा परिणाम यह निकला कि कितने ही सार्वजनिक मन्दिर हरिजनों के लिये खुल गए, कितने कुओं से उन्हें पानी भरने की सुविधा हो गई, हरिजन पाठशालाएँ खुल गईं और सार्वजनिक विद्यालयों में उनके पढ़ने की व्यवस्था हो गई। गान्धीजी की सब बातें तो मालवीयजी मानते थे पर वे यह नहीं चाहते थे कि शूद्रों को मन्दिरों में प्रवेश करने का अधिकार सरकारी कानून द्वारा मिले। गान्धीजी से जिन्हें थोड़ा सा भी परिचय होगा उन्हें यह जानकर सचमुच आश्चर्य होगा कि सरकार में तनिक सा भी विश्वास न रखने वाले गान्धीजी हरिजनों के मन्दिर प्रवेश के लिये सरकारी शरण क्या लेना चाहते थे? पर उनका यह दौरा १ अगस्त सन् १९३४ ई० को काशी में आकर समाप्त हो गया। उस अवसर पर काशी के सेण्ट्रल हिन्दू स्कूल के प्रांगण में बड़ी भीड़ हुई। वहाँ मालवीयजी ने अपनी इस नीति को बड़े सुन्दर शब्दों में प्रकट किया। उसी अवसर पर पहली अगस्त सन् १९३४ ई० को लोकमान्य तिलक की पुण्यतिथि के दिन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में भी गान्धीजी का भाषण हुआ और उसमें भी उन्होंने अपना मत प्रकट किया।

महात्मा गान्धी ने अपने भाषण में कहा—

पूज्य मालवीयजी! भाइयो और बहनो!

मुझे ईश्वर ने दुबारा काशी में आने का मौका दिया है, मुझे इसका बड़ा हर्ष है, और मुझे खुशी होती है कि इस पवित्र धाम में ही मेरा हरिजन दौरा समाप्त हो रहा है। मैं जो कुछ पैगाम देना चाहता हूँ वह यहाँ ही दे सकता हूँ। मुझे दुःख है कि वर्णाश्रम स्वराज्य संघ की तरफ से जो पण्डित जी आ रहे थे और जिनके लिये प्रबन्ध भी हो गया है वे कारणवशात यहाँ अभी तक न

आ सके। मुझे यह प्रिय लगता है कि जिनका इस बारे में हार्दिक विरोध है वे भी उसी प्लेट फार्म पर आकर बोलें जिस पर मैं बोलता हूँ। मेरा यह भाव धार्मिक ही है। इसमें दुराग्रह को स्थान नहीं है। इसके लिये कोई भी प्रयत्न किया जाय वह अपूर्ण ही होगा। मुझसे गलतियां हो सकती हैं और हुई हैं। इसमें भी मैं गलती नहीं कर सकता, ऐसा मैं दावा नहीं कर सकता और न मैंने किया। जो मैं आज मानता हूँ वह नई बात नहीं है। बचपन ही से यह मेरे जीवन के साथ गुँथी रही है। यह मुझे किसी ने बतलाया नहीं है। जिस समय मेरे ऐसे विचार हुए उस समय मैं स्वेच्छाचारी स्वच्छंद बालक था। मुझे राम नाम का मन्त्र सिखाया गया था। जिससे मैं भयमुक्त और सुरक्षित रहा। और जो पुरुष भी उसका पालन करने की चेष्टा करे वह भी भयमुक्त हो सकता है, तो यह बात मेरे जीवन में कोई नई पैदा नहीं हुई है। इस वृद्धावस्था में भी पचास या सौ वर्ष से अधिक से जो मूर्खता चली आई है उसे हटाने में मुझे तनिक भी संकोच न होगा।

मुझे कहना न होगा कि जितना प्रयत्न शास्त्रियों और पण्डितों से विचार करने का हो सकता है, मैंने किया। जिन शास्त्रियों का अभिप्राय है कि अस्पृश्यता शास्त्र सम्मत है, मैं ऐसे शास्त्रियों से मिला। कुछ निमन्त्रण से आए और कुछ स्वेच्छा से। वे मानते थे कि आधुनिक अस्पृश्यता शास्त्र सिद्ध है। मैंने उनकी बात भी सुनी किन्तु उनकी बातों ने मेरे दिल पर कोई असर नहीं डाला। मुझे जब कभी अपने अज्ञान का पता चला है तो मैंने बिना किसी की प्रेरणा के ही अपनी भूल स्वीकार कर ली है। शास्त्रियों की बातें समझते हुए भी मेरे दिल पर असर डालने वाला कोई अस्पृश्यता का प्रमाण नहीं मिला। कोई लोग अस्पृश्य भाइयों की संख्या सात करोड़ के करीब बताते हैं किन्तु इसमें अतिशयोक्ति है। वास्तव में वे पांच करोड़ हैं। इसके प्रमाण के लिये हम जिस स्मृति को मानते हैं वह नई स्मृति हम सेन्सस के नाम से पुकारते हैं। इस सेन्सस के अनुसार ही हम कहते हैं कि इतने अस्पृश्य हैं। उसमें प्रति दस वर्ष में परिवर्तन होता जाता है। चन्द जातियाँ जो दस वर्ष में अस्पृश्य मानी जाती हैं वे अगले दस वर्ष में स्पृश्य हो जाती हैं। और जो आज स्पृश्य हैं वे दस वर्ष बाद अस्पृश्य हो जाती हैं। इसके लिये शास्त्र में कोई प्रमाण नहीं है। इन लोगों से जैसा बर्ताव चल रहा है उसके लिये शायद ही ऐसा कोई नास्तिक हो जो कहेगा कि शास्त्र में इसके लिये प्रमाण है। यदि एक भङ्गी का बालक कुएँ पर जाता है तो पता चलने पर लोग उसे पानी नहीं भरने देते। उसे छू जाने पर कुआँ अस्पृश्य माना जाता है और वह हरिजन बालक पीटा जाता है, इस अन्याय के लिए हिन्दू जाति ही जिम्मेदार है।

एक हरिजन बालक को न्यूमोनिया हुआ, फेफड़े बिगड़ गए, खाँसी और सर्दी भी हुई, १०४ डिग्री बुखार हो गया। उसके लिये डाक्टर चाहिए, डाक्टर के लिये फीस चाहिए, डाक्टर हिन्दू होता हुआ भी उसकी नाड़ी परीक्षा के लिये मुसलमान डाक्टर भेजता है तब डाक्टर महोदय उसको बाहर बुलाते हैं और ऊपर से देख कर ही पुड़िया देने का वचन देकर चले जाते हैं। जब डाक्टर मुझे देखता है तो अपने यन्त्र को कभी यहाँ लगाता है, कभी वहाँ लगाता है और अच्छी प्रकार से परीक्षा करता है, किन्तु हरिजन को केवल देख कर ही वह रोग पहचान लेता है। यदि ऐसा मौका होता तो मैं इसे व्यक्तिगत स्वभाव का दोष बतला कर ही छोड़ देता और किसी के सिर जिम्मेदारी न डालता परन्तु ऐसे सैंकड़ों उदाहरण मौजूद हैं। सेगांव के दफ्तर में जो अछूत लिखे गए हैं वे जन्म से हैं ऐसा मेरी बुद्धि और मेरा हृदय स्वीकार नहीं करता। इसका उत्तर शास्त्री लोग भी मुझे न दे

फिर मन्त्र दीक्षा

कुछ दिनों के पश्चात कलकत्ते में ही ६ जनवरी सन् १९२८ को दूसरा दीक्षा-समारम्भ हुआ था। इस बार दीक्षा-स्थान के चारों ओर पुलीस और स्वयं सेवकों का पूरा प्रबन्ध किया गया था। यह सब होते हुए भी जब पण्डितजी नदी में स्नान के लिये उतरे तब एक सिक्ख सूत्रधारी गुण्डा छुरा लेकर उनपर टूट पड़ा। परन्तु सौभाग्यवश पण्डितजी बाल-बाल बच गए और गुण्डा पकड़ लिया गया। उस दिन भी मालवीयजी ने सहस्रों अछूतों तथा अन्य हिन्दुओं को दीक्षा दी। उस दीक्षा समारंभ में अनेक प्रतिष्ठित व्यक्तियों के अतिरिक्त कुछ अंगरेज सज्जन भी आ पहुँचे। यह दीक्षा कार्य्य प्रातःकाल नौ बजे प्रारम्भ होकर दिन के बारह बजे धूमधाम सहित निर्विघ्न समाप्त हुआ।

इसके अनन्तर प्रयाग और काशी में कई बार मालवीयजी ने मन्त्र-दीक्षा दी। १२ मार्च, सन् १९३६ ई० को मालवीयजी नासिक गए। वहाँ गोदावरी गंगा के राजबहादुर घाट पर उन्होंने लगभग डेढ़ सौ हरिजनों को नमः शिवाय मन्त्र की दीक्षा दी। यहाँ भी मालवीयजी का अपूर्व सम्मान हुआ और नगर की विभिन्न संस्थाओं की ओर से उन्हें अनेक मानपत्र दिए गए। मन्त्र-दीक्षा के विषय में बहुत से लोगों ने उनका विरोध किया पर मालवीयजी ने उस वृक्ष के समान आचरण किया जो लोगों के लाभ के लिए उनकी गालियों की चिन्ता नहीं करता।

इससे पूर्व १ अगस्त सन १९३३ ई० को महात्मा गान्धी ने हरिजन आन्दोलन आरम्भ कर दिया था जिसका मुख्य उद्देश्य था—हरिजनों के लिये सार्वजनिक स्थानों का प्रयोग खुलवाना और मन्दिरों में उनका प्रवेश कराना। इसके लिये महात्मा गान्धी चाहते थे कि एक विधान बन जाय और हरिजन लोगों के लिये मंदिर खुल जायें। महात्मा गान्धी ने इस कार्य्य के लिये सारे भारत का दौरा किया। उन्हें स्थान-स्थान पर हरिजन आन्दोलन के लिये धन भी मिला और उसका सबसे बड़ा परिणाम यह निकला कि कितने ही सार्वजनिक मंदिर हरिजनों के लिये खुल गए कितने कुओं से उन्हें पानी भरने की सुविधा हो गई हरिजन पाठशालाएं खुल गईं और सार्वजनिक विद्यालयों में उनके पढ़ने की व्यवस्था हो गई। गान्धीजी की सब बातें तो मालवीयजी मानते थे पर वे यह नहीं चाहते थे कि शूद्रों को मन्दिरों में प्रवेश करने का अधिकार सरकारी कानून द्वारा मिले। गान्धीजी से जिन्हें थोड़ा सा भी परिचय होगा उन्हें यह जानकर सचमुच आश्चर्य होगा कि सरकार में तनिक सा भी विश्वास न रखने वाले गान्धीजी हरिजनों के मंदिर प्रवेश के लिये सरकारी शरण क्या लेना चाहते थे? पर उनका यह दौरा १ अगस्त सन १९३४ ई० को काशी में आकर समाप्त हो गया। उस अवसर पर काशी के सेण्ट्रल हिन्दू स्कूल के मैदान में बड़ी भीड़ हुई। वहाँ मालवीयजी ने अपनी इस नीति को बड़े सुन्दर शब्दों में प्रकट किया। उसी अवसर पर पहली अगस्त सन १९३४ ई० को लोकमान्य तिलक की पुण्यतिथि के दिन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में भी गान्धीजी का भाषण हुआ और उसमें भी उन्होंने अपना मत प्रकट किया।

महात्मा गान्धी ने अपने भाषण में कहा—

पूज्य मालवीयजी ! भाइयो और बहनो !

मुझे ईश्वर ने दुबारा काशी में आने का मौका दिया है, मुझे इसका बड़ा हर्ष है, और मुझे खुशी होती है कि इस पवित्र धाम में ही मेरा हरिजन दौरा समाप्त हो रहा है। मैं जो कुछ पैगाम देना चाहता हूँ वह यहाँ ही दे सकता हूँ। मुझे दुःख है कि वर्णाश्रम स्वराज्य संघ की तरफ से जो पण्डित जो आ रहे थे और जिनके लिये प्रबन्ध भी हो गया है वे कारणवशात् यहाँ अभी तक न

आ सके। मुझे यह प्रिय लगता है कि जिनका इस बारे में हार्दिक विरोध है वे भी उसी प्लेट फार्म पर आकर बोलें जिस पर मैं बोलता हूँ। मेरा यह काम धार्मिक ही है। इसमें दुराग्रह को स्थान नहीं है। इसके लिये कोई भी प्रयत्न किया जाय वह अपूर्ण ही होगा। मुझसे गलतियाँ हो सकती हैं और हुई हैं। इसमें भी मैं गलती नहीं कर सकता, ऐसा मैं दावा नहीं कर सकता और न मैंने किया। जो मैं आज मानता हूँ वह नई बात नहीं है। बचपन ही से यह मेरे जीवन के साथ गुंथी रही है। यह मुझे किसी ने बतलाया नहीं है। जिस समय मेरे ऐसे विचार हुए उस समय मैं स्वेच्छाचारी स्वच्छन्द बालक था। मुझे राम नाम का मन्त्र सिखाया गया था। जिससे मैं भयमुक्त और सुरक्षित रहा। और जो पुरुष भी उसका पालन करने की चेष्टा करे वह भी भयमुक्त हो सकता है, तो यह बात मेरे जीवन में कोई नई पैदा नहीं हुई है। इस वृद्धावस्था में भी पचास या सौ वर्ष से अधिक से जो मूर्खता चली आई है उसे हटाने में मुझे तनिक भी संकोच न होगा।

मुझे कहना न होगा कि जितना प्रयत्न शास्त्रियों और पण्डितों से विचार करने का हो सकता है, मैंने किया। जिन शास्त्रियों का अभिप्राय है कि अस्पृश्यता शास्त्र सम्मत है, मैं ऐसे शास्त्रियों से मिला। कुछ निमन्त्रण से आए और कुछ स्वेच्छा से। वे मानते थे कि आधुनिक अस्पृश्यता शास्त्र सिद्ध है। मैंने उनकी बात भी सुनी किन्तु उनकी बातों ने मेरे दिल पर कोई असर नहीं डाला। मुझे जब कभी अपने अज्ञान का पता चला है तो मैंने बिना किसी की प्रेरणा के ही अपनी भूल स्वीकार कर ली है। शास्त्रियों की बातें समझते हुए भी मेरे दिल पर असर डालने वाला कोई अस्पृश्यता का प्रमाण नहीं मिला। कोई लोग अस्पृश्य भाइयों की संख्या सात करोड़ के करीब बताते हैं किन्तु इसमें अतिशयोक्ति है। वास्तव में वे पाँच करोड़ हैं। इसके प्रमाण के लिये हम जिस स्मृति को मानते हैं वह नई स्मृति हम सेन्सस के नाम से पुकारते हैं। इस सेन्सस के अनुसार ही हम कहते हैं कि इतने अस्पृश्य हैं। उसमें प्रति दस वर्ष में परिवर्तन होता जाता है। चन्द जातियाँ जो दस वर्ष में अस्पृश्य मानी जाती हैं वे अगले दस वर्ष में स्पृश्य हो जाती हैं। और जो आज स्पृश्य हैं वे दस वर्ष बाद अस्पृश्य हो जाती हैं। इसके लिये शास्त्र में कोई प्रमाण नहीं है। इन लोगों से जैसा बर्ताव चल रहा है उसके लिये शायद ही ऐसा कोई नास्तिक हो जो कहेगा कि शास्त्र में इसके लिये प्रमाण है। यदि एक भङ्गी का बालक कुएँ पर जाता है तो पता चलने पर लोग उसे पानी नहीं भरने देते। उसे छू जाने पर कुआँ अस्पृश्य माना जाता है और वह हरिजन बालक पीटा जाता है, इस अन्याय के लिए हिन्दू जाति ही जिम्मेदार है।

एक हरिजन बालक को न्यूमोनिया हुआ, फेफड़े बिगड़ गए, खाँसी और सर्दी भी हुई, १०४ डिगरी बुखार हो गया। उसके लिये डाक्टर चाहिए, डाक्टर के लिये फीस चाहिए, डाक्टर हिन्दू होता हुआ भी उसकी नाड़ी परीक्षा के लिये मुसल्मान डाक्टर भेजता है तब डाक्टर महोदय उसको बाहर बुलाते हैं और ऊपर से देख कर ही पुड़िया देने का वचन देकर चले जाते हैं। जब डाक्टर मुझे देखता है तो अपने यन्त्र को कभी यहाँ लगाता है, कभी वहाँ लगाता है और अच्छी प्रकार से परीक्षा करता है, किन्तु हरिजन को केवल देख कर ही वह रोग पहचान लेता है। यदि ऐसा मौका होता तो मैं इसे व्यक्तिगत स्वभाव का दोष बतला कर ही छोड़ देता और किसी के सिर जिम्मेदारी न डालता परन्तु ऐसे सैकड़ों उदाहरण मौजूद हैं। सेन्सस के दफ्तर में जो अछूत लिखे गए हैं वे जन्म से हैं ऐसा मेरी बुद्धि और मेरा हृदय स्वीकार नहीं करता। इसका उत्तर शास्त्री लोग भी मुझे न दे

सके। अभी-अभी देवनायकाचार्य जी आए हैं जिस ध्यान से आपने मेरे शब्द सुने हैं उसी प्रकार पण्डित जी का भाषण भी सुनें और जैसा असर पड़े, जो आप उचित समझें वैसा निश्चय कर सकते हैं। मैं सिर्फ एक बात और कहूँगा। काशी के पण्डितों की ओर से जो मुझे स्वागत-पत्र मिला है उसके लिये मैं आभारी हूँ। उसे मैं आप लोगों का आशिर्वाद मानता हूँ। जो द्रव्य मुझे मिला है उसके लिये मैं धन्यवाद देता हूँ। यद्यपि वह बहुत थोड़ा है परन्तु मुझे विश्वास दिलाया जा रहा है कि और संग्रह करने की चेष्टा की जायगी।

इसके पश्चात वर्णाश्रम स्वराज्य संघ के नेता श्री देवनायकाचार्य जीने धर्मशास्त्र के अनुसार बड़ी मधुर वाणी में अपना मन्तव्य प्रकट किया और इसके पश्चात पूज्य मालवीय जी ने कहना प्रारम्भ किया—

'देवियो और सज्जनो!

अभी आप लोगों के सामने श्री देवनायकाचार्य जी ने बड़ी शिष्टता और सभ्यता के साथ अपना मत प्रकट किया है। इससे पहले कई बार शास्त्र का विचार करने का प्रयत्न किया गया और उसका परिणाम छाप कर विद्वानों के विचार के लिये भेज भी दिया गया था। मैं बहुत समय से इस प्रयत्न में हूँ कि निष्पक्ष होकर विद्वान लोग यह निर्णय करें कि शास्त्र क्या कहता है। मुझे खेद है कि अब तक ऐसा न हो सका किन्तु मुझे आशा है कि यह निर्णय शीघ्र ही हो जाय और विद्वन्मण्डली राग-द्वेष छोड़ कर जो बतावेगी और निर्णय करेगी उसे सब मान लें। तभी सबका भ्रम भी मिट जायगा। मुझे गांधी जी के सन्देश के विषय में कहने से पूर्व जो कुछ याद आया वही मैं कहना चाहता हूँ। अस्पृश्यता और मन्दिर प्रवेश बिल के सम्बन्ध में मेरा अपने भाई (गांधी जी) से कुछ मतभेद है। मैं उनकी बहुत-सी बातें मान लेता हूँ और वे भी मेरी बातें मानते और मुझे आशा है कि मैं धीरे धीरे उन्हें मना भी लूँगा। मेरी राय में ऐसा बिल असेम्बली-द्वारा नहीं पास होना चाहिए। गांधी जी की राय है कि वह बिल हिन्दुओं की बहु संख्या की राय से पास हो, दूसरी जाति के लोगों की राय से न बने। इस बारे में मैं फिर अपने भाई (गांधी जी) से विचार करूँगा।

मन्दिर के विषय में तो आप जानते हो कि हमारे यहाँ कोई विष्णु का मन्दिर है कोई शिव का और कोई काली का। फिर किसके मत से मन्दिर प्रवेश का निर्णय हो। इसके लिये तो शास्त्र के अनुसार ही निर्णय होना चाहिए। गांधी जी की भी राय है कि कोई ऐसा काम न हो जिससे सनातनियों को चोट पहुँचे। जब से उन्होंने यह प्रयत्न प्रारम्भ किया है तब से लोगों के विचारों में बहुत परिवर्तन हुआ है और अस्पृश्यता भी बहुत मिटी है। मतभेद तो भाई भाई में होता है। मेरा और उनका (गांधीजी) का सम्बन्ध वैसा बना है। मतभेद प्रकाशन से परस्पर वैर नहीं होता। अपना-अपना मत रखना तो स्वभाव है। जो न्याय की बात हो, धर्म की बात हो और देश-जाति के मङ्गल के लिये हो, वही सबको करनी चाहिए। आप लोग स्मरण रखिए कि महात्मा गांधी का हृदय सनातन धर्म के भीतर बैठा है और वे इसे बहुत चाहते हैं। अछूत लोगों को हिन्दू जाति से बाहर निकालने का ईसाइयों ने प्रयत्न किया मुसल्मानों ने प्रयत्न किया और कितने ही अछूत भाइयों को मुसलमान और ईसाई बना भी लिया। जो गौ के रक्षक थे गौ को माता मानते थे, मुँह से राम राम जपते थे, चुटिया रखते थे वे आज ईसाई और मुसल्मान हो गए। वे अब धर्म रक्षक न रह गए। इसी बात

पर महात्मा गान्धी ने यह आवाज उठाई। चुटिया जिनके सिर पर, मुँह में जिनके राम राम, घर घर जिनके सत्यनारायण की कथा होती हो ऐसे सनातन धर्म के माननेवाले चमार भगी लोगो को ईसाइयों ने और मुसलमानों ने अपने दल म मिलाने का प्रयत्न किया किन्तु इन्होंने अनेका कष्ट सहकार भी गङ्गा और गऊ को, राम और कृष्ण को न छोडा। मेरा सिर उनके सामने झुक जाता है। उन्हीं को लाभ पहुँचाने के लिये ही गान्धी जी ने सिर उठाया। म सनातन धर्म के नाते चाहता हूँ कि जो लाभ मुसल्मान और ईसाइयों को मिलता हो वही लाभ डोम और भङ्गी को भी मिले। हमारे सनातन धर्म की महिमा है कि मनुष्य चाहे किसी भी जाति में रहे किन्तु यदि धर्म से चले तो उसका उद्धार हो जाता है। मै धर्म ग्रन्थों के अध्ययन के अनुसार कहता हूँ कि इनको भी देव-दर्शन का लाभ मिलना चाहिए। यही अभिलाषा गान्धी की भी होगी। स्कन्दपुराण में भी इसका प्रमाण है कि यदि चण्डाल सदाचारी हो तो वह ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के समान आदर पाने के योग्य हो जाता है। यदि ऐसा हो सकता हो तो फिर हम अपने अछूत भाइयों को सदाचारी क्यों न बनावें। हम उन्हें सदाचारी बना कर दिखा दें कि जो भाई छोटे-से छोटा हो उससे भी हिन्दू धर्म ऊँचा उठा सकता है।

एक ब्राह्मण को अपने ज्ञान का बड़ा अभिमान था। जब वह एक स्त्री के पास गया तो उसने बतलाया कि मिथिला में धर्म-व्याध के पास जाकर शिक्षा लो। मिथिला जाने पर उसने देखा कि धर्म-व्याध दूकान पर बैठा मांस बेच रहा है। किन्तु उसके संस्कार बडे अच्छे थे, उसको धर्म का ज्ञान था। ब्राह्मण ने उससे धर्म का उपदेश सुना। इस कथा का अर्थ यह है कि चाण्डाल जाति में होने पर भी उसके पूर्व जन्म के संस्कार इतने उत्तम थे कि ब्राह्मण ने उससे धर्म सुना। जहां नीम का जङ्गल होता है वहां के सब पेड कड़वे हो जाते हैं, किन्तु जहाँ चन्दन होता है वहाँ सब वृक्षों में सुगन्ध आ जाता है सत्सङ्ग और सदाचार की यही महिमा है।

सदाचार ऐसी वस्तु है कि इसमे नीच कुल में उत्पन्न होकर भी मनुष्य ऊंचा सम्मान पा सकता है। इस प्रकार का उपदेश महात्मा गान्धी आपको देते है। वे चाहते हैं कि इन लोगों की तकलीफ दूर हो यदि कुएँ पर एक हमारा अछूत भाई रामदास जाय, जिसके सिर पर चुटिया है, जो एकादशी व्रत रखता है, सत्यनारायण की कथा सुनता है, गंगा स्नान करता है यदि वह प्यासा रह गया तो समझ लो कि हमारे पूर्व पितर सब प्यासे रह गए। चाण्डाल भी हमारे अंग हैं। हमारा धर्म है कि स्मृति में जो उनके लिये धर्म का मार्ग दिखाया गया है उसका उपदेश दें। क्या आप लोगों में से कोई चाहते हैं कि उन्हें पीने को पानी न मिले? (श्रोता—नहीं-नहीं)। क्या आप चाहते हो कि जिन सड़कों पर सब लोग चलते हो उन पर उन्हें चलने को न मिले? (कभी नहीं), क्या आप चाहते हो कि जिन स्कूलों में ईसाई मुसलमानों के लड़के पढ़ते हैं उनमें वे न पढ़ने दिए जाय? (कभी नहीं)। हाँ यह हो सकता है कि जिन पाठशालाओं और विद्यालयों में केवल द्विजातियों के पढ़ने की व्यवस्था हो वहाँ वे न पढ़े किन्तु सर्व-साधारण स्कूलों में तो उनको पढ़ने ही देना चाहिए। मेरी यही इच्छा है कि ऐसी जगहों में जहाँ रोक हो वह दोष मिटे।

आज चार या पाँच करोड़ हिन्दू अछूत कहलाते हैं। इनमें अछूत वे ही हैं जो मैले काम करने वाले हैं। वे मानव-जाति की वह सेवा करते हैं जो कोई दूसरा कर नहीं सकता। यदि वे एक दिन भी अपना काम बन्द कर दें तो हमारी क्या दशा होगी, विचार कर लो। भगवान ने कहा है—

"स्वे-स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धि लभते नर: " [अपने अपने काम में लगे हुए लोग मेरा पद पा सकते हैं ।] ये भंगी-चमार भाई सब अपना काम करें । फिर स्नान करके यदि सूर्य नारायण को अर्घ्य दें, मन्त्र जपें तो बोलो इनका मंगल होगा कि नहीं ? (अवश्य-अवश्य) देह धारकर यदि हमारा भाई चाण्डाल और हमारी बहन चाण्डालिनी यदि मन्त्र जपें, राम का नाम लें, कथा सुनें, व्रत करें, तो धर्म की उन्नति हुई कि नहीं ? (हुई)

मैं गांधी जी की कई बातें नहीं मानता हूँ । किन्तु मुझे विश्वास है कि इनके मतभेद को मैं मिटा दूंगा ।

मैं चाहता हूँ कि इन गरीब बहिनों को ऐसा अवसर प्राप्त हो कि सायं चार बजे घर से निकल कर मल साफ करके नहाएं और अच्छे कपड़े पहन कर राम नाम जपें, बताओ तब उन्नति होगी कि नहीं ? (होगी) जब से मौण्टेगू चेम्सफर्ड स्कीम आई तब से ईसाई कहते हैं कि इन अछूतों में से आधे हमें दो । मुसलमानों ने अलग हाथ पर फैलाए लालच दिए किन्तु धन्य है ये भाई कि सब तकलीफ उठा कर भी ये हिन्दू धर्म में ही बने रहे । मैं इनके आगे अपना माथा टेकता हूँ ।

नृसिंह-पुराण में लिखा है—कि ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, शूद्र तथा अन्त्यज—सबको भगवान के दर्शन का अधिकार है जहाँ मंदिर के अधिकारी प्रसन्नता से जाने का अवसर दें वहाँ गर्भ-द्वार के बाहर से ही उन्हें दर्शन करा दिया जाय । जहां न आज्ञा दें वहां न जायें । मेरा विचार है कि हर एक बस्ती में ऐसे मंदिर बनवा दिये जायं जिनमें सब जातियाँ जा सकें और भजन-कीर्तन कथा-उपदेश सुन सकें ।

हम इन अछूतों को जल देना है, रहने को स्थान देना है और इन्हें शिक्षा देनी है । मैं तो चाहता हूँ कि उनके चार करोड़ घरों में मूर्तियां रक्खी हों और भगवान का भजन हो, तभी तो वास्तव में मङ्गल होगा । महात्माजी ने जो बारह महीने से कार्य उठाया था वह परसों तक इस विश्वनाथ जी की नगरी में समाप्त हो जायगा । भगवान् इन्हें दीर्घायु करें और सदा मङ्गल करें जिससे ये सबका दुःख दूर कर सकें । आप की तपस्या और परिश्रम के लिये धन्यवाद है । भगवान विश्वनाथ आपको दीर्घजीवी करें ।

यद्यपि गांधीजी अपने मत से विचलित नहीं किए जा सके तथापि मालवीयजी ने मन्त्र-दीक्षा के द्वारा अछूतों के उद्धार का जो कार्य प्रारम्भ किया था वह निरन्तर होता रहा मालवीयजी के अतिरिक्त अन्य अनेक बड़े-बड़े विद्वानों ने भी मन्त्र-दीक्षा देनी प्रारम्भ की, जिनमें महामहोपाध्याय पण्डित प्रमथनाथ तर्कभूषण और पण्डित मदनारायण उपाध्यायजी का नाम उल्लेखनीय है । सन् १९३६ ई० में मन्त्र-दीक्षा समारम्भ के प्रसंग शिवरात्रि-पर्व पर काशी में हाथियों पर बड़े भगवान और छहों दर्शनों के स्वरूप ■ विद्वानों की शोभा-यात्रा निकली । बड़े बड़े प्रकांड पण्डित साथ में शिव महिम्न-स्तोत्र का पाठ करते चल रहे थे । उनके पीछे अपार जनसंख्या, हरिजनों के अखाड़े गाने बजाने वालों की मण्डलियां—एक अपूर्व अवर्णनीय समारोह था—दशाश्वमेध घाट पर सभा हुई । अस्वस्थ होने पर भी मालवीयजी वहाँ आए और उन्होंने उपदेश दिया और अगले दिन यथाविधि उन्होंने मन्त्र-दीक्षा भी दी ।

इस मन्त्र-दीक्षा का सबसे बड़ा प्रभाव तो यह हुआ कि काशी के सारे हरिजन यह समझने लगे कि हम हिन्दू हैं, हमें भी रामनाम जपने का अधिकार है और हमारा भी हिन्दू समाज में स्थान है ।

हरिजनों के उद्धार के लिये मालवीयजी ने इतना ही नहीं किया वरन् कई बार हरिजनों के मुहल्ले देखने के लिए गए, उन्हें स्वच्छता का उपदेश दिया और उनके मकान बनाने के लिये उद्योग किया।

मालवीयजी के इस काम ने काशी के कुछ पण्डितों को इतना रुष्ट कर दिया कि उनमें से बहुत से लोग तो मालवीयजी को गालियाँ देने लगे। पर सच्चे हृदय से पूछा जाय कि क्या वे लोग मालवीयजी के विशाल हृदय को तनिक भी पहचान पाए ? यह डंके की चोट कहा जा सकता है कि जैसा सादा और परम पवित्र जीवन मालवीयजी का था उतना पवित्र जीवन स्यात ही विश्व के किसी कोने में मिल सके। जो विद्वान उनका विरोध भी करते थे व भी यदि निष्पक्ष तथा सूक्ष्म दृष्टि से एकान्त में बैठ कर इस पर विचारेंगे तो उन्हें ज्ञात हो जायगा कि मर्यादापुरुषोत्तम राम ने जब निषाद को गले से लगाया उस समय राम, राम ही बने रहे, पर निषाद अपनी स्थिति से ऊँचे उठ गया। पारस कभी लोहा नहीं बनता है, वह लोहे को सोना बना देता है। हमारे विद्वान पण्डितगण यह बात जानते हैं कि गङ्गाजी की पवित्र धारा में सारा संसार आकर डुबकी लगा लेता है और सारा मल भी उसमें डाल देता है, पर गङ्गाजी वही जगत्रयपावनी बनी रहती हैं और भगवान् विश्वनाथजी नित्य उन्हीं के जल से स्नान करने को उत्सुक रहते हैं।



गूँगी माता : गौ

जब हम कभी पीड़ा होने लगती है तो हम छटपटाते हैं, रोते और चिल्लाते हैं और बता देते हैं कि पीड़ा यहाँ हुई है। पर यदि वही पीड़ा किसी गूँगे को हो, जिसके वाणी न हो, तब वह अपनी पीड़ा कैसे बतावे? ऐसे कितने लोग हैं जो आँख के आँसू देखकर किसी की व्यथा पहचान लेते हैं।

सुनते हैं हमारे देश में दूध दही घी की नदियाँ बहती थीं। लोग बड़े अभिमान से चिल्ला चिल्ला कर सभाओं में यह बात निरन्तर कहा करते हैं। यह बात वैसी ही अटपटी है जैसे दिल्ली के कुछ ताँगेवाले सम्राट अकबर के खानदान से अपना सम्बन्ध जोड़ कर मन में मगन हुआ करते हैं। पर उनके सामने दिल्ली का लाल किला, फतेहपुर सीकरी के भवन और आगरे का ताज उनके पुराने वैभव की उन्हें याद तो दिलाते हैं। यहाँ तो दूर तक चले जाइए, खेतों में मरभुखे बैल और गोचरों में सूखी हुई गौएँ मिलेंगी जिनका एक एक हाड़ गिन लीजिए और ऐसी भी इतनी कम हैं कि उन्हें उँगली पर गिना जा सकता है।

जब से अँगरेज हिन्दुस्तान में आए तब से हिन्दुस्तानियों को भी गर्मी अधिक लगने लगी। उन पहाड़ी प्रान्तों में जहाँ संसार की मोह माया त्याग कर लोग अपना एकान्त जीवन बिताने जाया करते थे, उन्हीं हिमालय की पावन पर्वत मालाओं में मोह माया को साथ लपेटे लेकर लोग पहुँच गये हैं। पर्वत की पवित्रता और एकान्तता तो मिट ही गयी, साथ ही उसका स्वरूप भी बदल दिया। जहाँ लोग ब्रह्म से मिलने का प्रयास करने जाया करते थे। वहाँ लोग सरकारी अधिकारियों, नेताओं, मन्त्रियों और प्रेमिकाओं से मिलने जाने लगे। विलास ने वहाँ डेरा आ जमाया। योगियों का स्थान भोगियों ने छीन लिया। आप पहाड़ियों की रानी मन्सूरी पर चले जाइए। देहरादून व गाँधी मैदान से यह पहाड़ी सामने दिखाई पड़ती है जहाँ नित्य संध्या को बिजली के दीपों की मनोहर दीवाली निरन्तर मनाई जाती रहती है। गर्मी के दिनों में, वहाँ नन्दनवन ऊपर स्वर्ग से उतर आता है और नीचे के देवता लोग ऊपर उस नन्दनवन में विहार करने के लिए चढ़ आते हैं। यहाँ नियमित रूप से तीसरे चौथे दिन गायों का एक झुण्ड आया करता था, जिनके पीछे पीछे लाठी लिए हुए कसाई बड़ी निर्दयता से उन्हें हाँकते ले चलते थे। वे गौएँ कितनी सुन्दर, स्वस्थ और बलिष्ठ होती थीं कि बस देखते ही बन पड़ता था। जान पड़ता था कि इन्हीं गौओं को देखकर रसखान ने कहा था—आठहुँ सिद्धि नवों निधि को सुख नन्द की गाय चराय बिसारौं पर ये सुन्दर गाएँ श्मशान में ले जाई जाती थीं। जहाँ कई-कई गायें एक साथ छुरे के नीचे पहुँचा दी जाती थीं। कुछ गायें हठ करती थीं आगे नहीं बढ़ती थीं उनकी पूँछ ऐसी बुरी तरह मरोड़ी जाती थी कि वह टूट जाती थी। बेचारी पीड़ा से उछलकर आगे बढ़ती थी और फिर समाप्त। हिन्दुओं की ये माताएँ उसी पवित्र हिमालय की गोद में, जहाँ से गंगा निकलती हैं और उन्हीं हिन्दुओं के सामने, जो उन्हें माता कहते हैं, राक्षसों का भोजन हो जाती थीं। जहाँ एक ओर आँख में आँसू भरकर पच्चीस करोड़ पुत्रों के होते हुए भी वह माता विवश होकर प्राण देती थी वहीं दूसरी ओर हम लोग सिनेमा देखते थे दूर देशों के समाचार पढ़ते थे और अपनी गर्मी शान्त करने के लिए वहाँ निवास करते थे। उस हल्ले में हमें अपनी

गूँगी माँ का विलाप नहीं सुन पड़ता था, हम नहीं समझ पाते थे कि हमारे बच्चों के मुँह से बलपूर्वक दूध छीना जा रहा है। यद्यपि आजकल यह दुष्काण्ड कम हो गया है किन्तु भारत के अनेक प्रदेशों में अब भी इसकी आवृत्ति होती जा रही है। पर हम लोग चुप बैठे हैं, साम्यवाद और समाजवाद का ढकोसला करते हैं और हमारी आर्थिक समस्या का जो इतना महत्त्वपूर्ण पहलू है उसकी ओर ध्यान नहीं दे रहे हैं।

कौटल्य के अर्थशास्त्र को पढ़ने से ज्ञान पड़ेगा कि उस समय दुधारू पशुओं की रक्षा के लिए राज्य की ओर से कैसे कैसे उपाय किए जाते थे। जो ग्वाले गर्मी के दिनों में बछड़ों के लिए पर्याप्त दूध नहीं छोड़ते थे उनके अँगूठे काट लिए जाते थे। किसी बछड़े, साँड या गौ को मारने की आज्ञा नहीं थी। यह प्रथा वर्तमान काल तक भी हिन्दू राज्यों में बनी चली आई और गौ केवल हिन्दुओं की माता नहीं, वरन् तीनों लोकों की माता कहलाई जाने लगी—

'गावस्त्रैलोक्यमातर'

हिन्दुओं की बात तो जाने दीजिए, मुसलमानी शासनकाल में गोरक्षा पर बड़ा ध्यान रक्खा गया। बाबर ने अपने मरन के समय अपने पुत्र हुमायूँ को उपदेश देते हुए यह भी कहा था कि यदि तुम भारत के लोगों के हृदय पर शासन करना चाहते हो तो गौ की हत्या न होने देना।

मुस्लिम राज्य की स्थापना से लेकर फीरोजशाह तुगलक के समय तक गौ की बिक्री पर जजी नाम का एक कर लगाया जाता था जिसका उद्देश्य यही था कि गौ की रक्षा हो सके। अकबर और जहाँगीर दोनों ने गौ की रक्षा का प्रयत्न किया। 'इस्लामी गोरक्षण-सभा' के अनुसार बाद के मुगल बादशाहों में मुहम्मद शाह और शाह आलम ने भी गो वध की मनाही कर दी थी।

मुगलों के अन्तिम दिनों में प्रातः स्मरणीय छत्रपति शिवाजी ने तो केवल गौ और ब्राह्मण की रक्षा के लिए ही तलवार सँभाली थी। जब वे बारह वर्ष के थे तब एक दिन उन्हें बलपूर्वक बीजापुर के सुल्तान के दरबार में जाने के लिए कहा गया। उन्होंने स्पष्ट कह दिया, "हम हिन्दू हैं, ये यवन हैं। ये बड़े नीच हैं क्योंकि ये गौ की हत्या करते हैं। सरेआम गौएँ मारी जाती हैं। मेरा बस चले तो मैं इन हत्यारों की गर्दन मार दूँ।'

वर्तमान समय में नेपाल राज्य ने गोरक्षा के सम्बन्ध में प्रशंसनीय काम किया है। स्वतन्त्रता प्राप्त करने से पूर्व जोधपुर राज्य तो इससे भी आगे बढ़ा हुआ था। वहाँ से गौ, भेड़ और बकरी तक का बाहर भेजना मना था। सन् १८२६ ई० में बेलारी जिले के अन्तर्गत सोण्डूर राज्य के शासक ने गौ वध रोकने की तो घोषणा कर ही दी थी साथ ही बूढ़ी और सूखी गौओं को भी कसाइयों के हाथ से ले लेने का प्रबन्ध राज्य की ओर से किया था।

यह जान कर किसे आश्चर्य और हर्ष न होगा कि इस युग में सबसे पहले गोरक्षा का काम सोलापुर के प्रसिद्ध मुसलमान वकील श्री सैयद नाजिर अहमद साहब ने प्रारम्भ किया था और उन्होंने सोलापुर में ही 'इस्लामी गोरक्षण सभा' स्थापित की। वे गौ के और गोपाल कृष्ण के अनन्य भक्त थे। उन्होंने सदा यह प्रचार किया कि इस्लाम धर्म ने कहीं भी गोवध की आज्ञा नहीं दी है। उन्होंने गोरक्षा के लिए बहुत से पर्चे और पुस्तकें बाँटी। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के शब्दों में उनके लिए कहा जा सकता है—

'इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दू वारिए।"

सन् १८७७ ई० में मद्रास में 'सोसाइटी फोर दि प्रिवेन्शन ऑफ क्रुएल्टी टू ऐनिमल्स' (जीवों को निर्दयता से बचानेवाली समिति) नामक संस्था प्रारम्भ हुई। यह तब से काम करती आ रही है। इसके इन्सपेक्टरों को पुलिस के सिपाहियों के अधिकार मिले हुए हैं कि वे किसी भी जीव हिंसक को तत्काल बन्दी कर सकते हैं।

कलकत्ते का 'काउ प्रिजर्वेशन लीग' (गोरक्षा-संघ) सन् १९०८ ई० में स्थापित हुआ और इसके अध्यक्ष हुए आशुतोष मुकर्जी। फिर तो भारत भर में न जाने कितनी 'पिञ्जरापोल', गोशालाएँ और गोरक्षक मण्डलियाँ बनीं।

मालवीयजी महाराज का गोरक्षा-आन्दोलन से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। राष्ट्रिय महासभा (कांग्रेस) के जन्म के पश्चात् ही उसी के साथ प्रति वर्ष गोरक्षा सम्मेलन भी होने लगा और मालवीय जी उसमें नियमित रूप से भाग लेने लगे। इधर हरिद्वार के पास गो वर्णाश्रम धर्म सभा, कनखल में और फिर भारत धर्म महामण्डल तथा सनातन धर्म सभाओं ने गोरक्षा के लिए आन्दोलन किया जिनमें से अनेक का नेतृत्व मालवीय जी ने किया और अनेक गोरक्षा सम्मेलनों के वे सभापति रह चुके हैं। मालवीय जी ने केवल प्रचार मात्र ही नहीं किया वरन् स्थान-स्थान पर गोशालाओं और पिंजरापोलों के लिए रुपया भी इकट्ठा किया। राजाओं, महाराजाओं जमींदारों और ताल्लुकेदारों से मिलकर उन्होंने गोचर भूमि के लिए स्थान छुड़वाए। मथुरा के श्री हासानन्द का नाम गोरक्षा के इतिहास में अमर रहेगा। वे सदा अपना मुँह काला किए रहते थे। उनका कहना था कि जब तक हम पूर्णतः गोवध बन्द नहीं कर लेते तब तक हम लोगों को अपना मुँह काला ही रखना चाहिए। पूज्य मालवीय जी ने हासानन्द की बड़ी सहायता की और मथुरा के हासानन्द गोचर भूमि-ट्रस्ट के स्थापित करने में पूरा सहयोग दिया।

प्रायः राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) के साथ-साथ गोरक्षा सम्मेलन भी हुआ करते थे। गांधी जी को गोरक्षा में बड़ी विशेष रुचि थी। इसीलिए अखिल भारतीय गोरक्षा-समिति साबरमती के अधीन महात्मा गांधी की संरक्षता में एक केन्द्रीय गोरक्षा समिति बनी जो अब तक बराबर गोरक्षा का काम करती है।

सन् १९२८ ई० में मालवीय जी की अध्यक्षता में प्रयाग में जो सनातनधर्म-महासम्मेलन हुआ उसमें गोरक्षा के सम्बन्ध में बड़े महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव हुए। ये केवल प्रस्ताव मात्र नहीं वरन् गोरक्षा की पूरी कार्य प्रणाली ही है—

१—(क) इस महासभा को यह देखकर बहुत सन्ताप होता है कि इस देश में गोवध का बड़ा भयंकर संहार हो रहा है। अतएव महासभा हिन्दू भाइयों से सानुरोध प्रार्थना करती है कि वे गौओं को वधिकों के हाथ पड़ने से बचावें और बन्ध्या तथा बूढ़ी गौओं को ऐसे स्थानों, जंगलों और रियासतों में रखने का प्रबन्ध करें जहाँ कानून से गोहत्या निषिद्ध हो।

(ख) यह महासभा जमींदारों से निवेदन करती है कि गाँवों में गोचारण के लिए काफी भूमि छोड़ने का नियम करें और जहाँ गोचारण भूमि को खेती में मिला लिया गया हो उसे छोड़ दें तथा सरकार अनुरोध करती है कि ऐसी जमीन पर मालगुजारी न ले।

(ग) जहाँ-जहाँ उचित जान पड़े एक-एक आदर्श गोशाला खोली जाय।

(घ) प्रत्येक हिन्दू जिसको सामर्थ्य हो एक गौ पाले।

(ङ) यह महासभा गोदान करनेवालों को आदेश करती है कि वे योग्य पात्र को ही गोदान दें और गोदान के योग्य ही गौओं का दान करें तथा गोदान लेनेवालों से प्रार्थना करती है कि उन्हें गौ के रखने का सामर्थ्य न हो तो उसका दान न लें।

(च) यह सनातनधर्म-महासभा सब सनातन धर्मानुयायी सज्जनों से निवेदन करती है कि वृषोत्सर्ग में वे केवल उत्तम जाति के साँड छोड़ें और वहीं छोड़ें जहाँ उनकी आवश्यकता हो। साँड छोड़ने से पहले म्युनिसिपल या डिस्ट्रिक्ट बोर्ड से या रियासतों की सरकार के साथ इस बात का वे पक्का प्रबन्ध कर लें कि उनके छोड़े हुए साँड का ठीक ठीक पालन पोषण और उनकी रक्षा होगी। बिना ऐसा प्रबन्ध किए साँड को छोड़ना इस कलियुग में पाप का मूल हो गया है और उससे प्रत्येक धर्मशील प्राणी को बचना चाहिए।

(छ) यह महासभा हिन्दू मात्र के प्रति आदेश करती है कि वे कसाइयों के साथ किसी प्रकार के लेन-देन का व्यवहार न करें और जो इसके विरुद्ध लेन-देन करें या गौ को बधिकों के हाथ बेचे, उसे उचित सामाजिक दण्ड दें।

(ज) यह महासभा प्रत्येक हिन्दू से अनुरोध करती है कि वह जहाँ तक हो सके चमड़े का व्यवहार कम करे।

२—इस महासभा का यह निश्चय है कि गोवध केवल मांस के कारण ही नहीं वरन् चमड़ा, चरबी, इत्यादि वस्तुओं के कारण भी होता है और वध की हुई गाय का चमड़ा काम में लाने से गौ हत्या को उत्तेजना मिलती है। इसलिए यह महासभा हिन्दू मात्र से अनुरोध करती है कि वे स्वाभाविक मृत्यु से मरे हुए पशुओं के ही चमड़े से बने हुए जूते आदि काम में लावें और हिन्दू धनिकों से प्रार्थना करती है। कि स्वाभाविक मौत से मरे हुए पशुओं के चमड़े के जूते आदि बनवा कर सब हिन्दुओं के लिए उनका प्राप्त करना सुलभ कर दें, और हिन्दू मिल वालों से अनुरोध करती है कि वे कपड़े की माँडी इत्यादि में चरबी के स्थान पर अन्य निर्दोष वस्तुओं का प्रयोग करें।

(३) इस महासभा की सम्मति आजकल बड़े शहरों में दूध बेचने वाले लोग गौओं से बहुत बुरा बर्त्ताव कर रहे हैं, जिससे वह पूर्ण युवावस्था में ही प्रायः बन्ध्या होकर मार डाली जाती है और उनके बच्चों को भी मार डालते हैं। इसलिए यह महासभा सब गोशालाओं तथा पिंजरापोलों के व्यवस्थापकों से अनुरोध करती है कि वे उनको दुग्धालय के रूप में परिणत कर दें। वृद्ध, अशक्त और दूध न देने वाली गौओं को, जहाँ उनके पालन का व्यय कम हो, ऐसे स्थान पर भेज दें और अपने साँडों के द्वारा गौओं की नसल इस प्रकार सुधार दें और दूध बढ़ा दें कि किसी के लिए भी उनका वध करना आर्थिक दृष्टि से असम्भव हो जाय।

(४) सनातनधर्म महासभा को यह देख कर अत्यन्त दुःख होता है कि बड़े बड़े नगरों में दूध देने वाली गौएँ ले आई जाकर दूध बन्द होने पर कसाइयों के हाथ बेच दी जाती हैं और उनसे बच्चे नहीं लिए जाते। इस भयकर पाप और हानि को रोकने के लिए सन् १९१३ ई० में जो बोर्ड ऑफ एग्रिकल्चर ने कोयम्बटूर में कानून की आवश्यकता बतलाई थी, उसकी ओर महासभा सरकार और कौन्सिलों के मेम्बरों का ध्यान दिलाती है।

पड़ता है। यह काम वैश्यों का था—"कृषि गोरक्ष वाणिज्यं वैश्य धर्म स्वभावजम्।" [कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य ये वैश्यों का स्वाभाविक धर्म है।]

हिन्दू विश्वविद्यालय से वाइस चांसलर पद त्याग देने के पश्चात् वे गोसेवा में ही लग गए थे। और शिवपुर (काशी) में ही उन्होंने च्यवनाश्रम की प्रसिद्ध गोशाला स्थापित की और अन्त तक उसके गोपाष्टमी के उत्सव में सम्मिलित होते रहे। अन्तिम बार सम्वत २००३ की गोपाष्टमी के दिन भी वे च्यवनाश्रम गए थे। वहाँ उन्होंने भाषण भी दिया और मल्लयुद्ध भी बहुत देर तक देखते रहे। अन्त में वहीं व्यास जी ने उन्हें अनार का रस पिला दिया। बस वह रस ही विष हो गया, सर्दी भर गया, कफ बढ़ने लगा और उसके प्रभाव से उन्होंने जो शय्या पकड़ी फिर उठ ही नहीं पाए।

गोभक्त मालवीय जी स्वयं चमड़े का जूता नहीं पहनते थे। वे सवर्णों, सहस्त्रों गूँगी माताओं के आशीर्वाद से ही आयु पाते चले जा रहे थे। वही पवित्र दूध मालवीय जी के शरीर में उत्साह बल, कान्ति और मेधा दे रहा था और बेचारी गौएं बड़ी आशा से उनकी ओर उस दिन की बाट जोहती हुई निहारती थीं जब भारत में गोवध बन्द हो और वे स्वतन्त्रतापूर्वक फिर पहले के समान विचरें।

सन् १९४१ के नवम्बर में एक वर्ष की मनौ जेलयात्रा के अनन्तर पंडित यज्ञनारायण उपाध्याय जी को ज्ञात हुआ कि मालवीय जी महाराज प्रयाग में हैं। वे सीधे उनके पास पहुँचे। मालवीय जी ने कहा कि मेरे हाथ पर काम नहीं कर रहे हैं। दो चार पग चलना भी मेरे लिए असम्भव है। हाल में ही मैंने गोरक्षा मण्डल की स्थापना की है और उसकी रजिस्ट्री भी करा दी है। कुछ सज्जनों से सहायता भी मिल चुकी है। यद्यपि मैं यावत जीवन कुछ न कुछ गोमाता की सेवा करता रहा किन्तु इस समय गोरक्षा के सम्बन्ध में व्यवस्थित रूप से कुछ कार्य करना है। यदि तुम इस कार्य में लग जाओगे तो सम्भव है यह कार्य व्यवस्थित रूप से चलने लगेगा। कुछ दिन हुए बम्बई से चौंडे जी महाराज काशी में आए थे। उन्होंने मुझसे कहा कि आप जीवन भर देश की सेवा नाना प्रकार से करते रहे किन्तु आपने गो माता की व्यवस्थित रूप से कोई सेवा नहीं की। इस समय मैं देख रहा हूँ कि देश में स्थान-स्थान पर लाखों गौओं का संहार युद्ध के कारण हो रहा है। दूध भी दुर्लभ हो रहा है। आपके खड़े हुए बिना यह कार्य किसी प्रकार नहीं हो सकता। मैंने कहा कि चौंडे जी महाराज इस समय मेरे हाथ-पैर काम नहीं देते। यदि दस वर्ष पूर्व यह कार्य मुझे सौंपते तो मैं अवश्य कुछ कर सकता लेकिन आप की आज्ञा शिरोधार्य है।

यही वार्तालाप काशी गोरक्षा मण्डल की स्थापना का मूल है। काशी लौटने पर मालवीय जी महाराज नियमित रूप से प्रतिदिन गो सम्बन्धी भारतीय और पाश्चात्य देशों के साहित्य का अनुशीलन करते थे। पंजाब निवासी ब्रह्मदत्त शर्मा यूरोप, अमेरिका आदि देशों का गो-सम्बन्धी वर्णन सुनाते थे और हिन्दू विश्वविद्यालय की विद्वमण्डली वेद से लेकर अब तक का भारतीय गो-सम्बन्धी साहित्य उनको सुनाया करती थी।

उनका कहना था कि जब किसी कार्य में लगना हो तो तत्सम्बन्धी साहित्य का पूर्ण रूप से अनुशीलन करना परम कर्तव्य है। मण्डल की प्रबन्ध समिति ने इस संस्था का उपमन्त्री उपाध्याय जी को नियुक्त किया और मालवीय महाराज के आदेशानुसार गोरक्षा सम्बन्धी जो कार्य पाँच वर्षों में

हुआ उसका संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है। मण्डल द्वारा बिहार, युक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) और मध्य प्रान्त (मध्य प्रदेश) के प्रायः सभी जिलों में गोरक्षा का प्रचार, गो शालाओं का संगठन और उनको व्यवस्थित रूप से चलाने का प्रबन्ध किया गया। सभी गोशालाओं को एक सूत्र में बाँधने का संघटित उद्योग हुआ।

हमारे भारतवर्ष के सभी स्थानों में कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा से अष्टमी तक गो सप्ताह मनाने का आयोजन किया गया। मालवीय जी महाराज कहा करते थे कि मैंने अपने जीवन में प्रथम भाषण मिर्जापुर में १६ वर्ष की अवस्था में गोरक्षा पर दिया था। उनकी आन्तरिक अभिलाषा थी कि गो माता की सेवा करते हुए जीवन समाप्त हो। उनकी इच्छा पूरी हुई। च्यवनाश्रम में गोपाष्टमी के उत्सव में उनका अन्तिम भाषण गो रक्षा पर ही हुआ था।

युद्धकाल में भारत सरकार के खाद्य सदस्य सर योगेन्द्रसिंह सर्दार जी काशी हिन्दू विश्व विद्यालय देखने आए और वे पूज्य मालवीय जी महाराज से मिले। महाराज ने खाद्य सदस्य को बतलाया कि भारत में कई स्थानों पर गर्भी गर्भिणी गाएँ मारी जाती हैं और गर्भ के बच्चों के नर्म चमड़े का सामान बनाया जाता है जो देश विदेश में ऊँचे मूल्य पर बिकता है। इसके कारण महाराज बड़े दुखी रहते थे। अतः मालवीय जी महाराज ने खाद्य सदस्य पर बहुत बल देकर कहा था कि भारतवर्ष में गो-वध बन्द होना चाहिए। उन्होंने उत्तर दिया था कि इसके लिए संघटित और देश व्यापी आन्दोलन होना चाहिए। तत्काल उन्होंने दस वर्ष से कम उम्र के बैल, दूध देने वाली या गर्भिणी गाय और बछड़ों के वध न करने की विशेष आज्ञा निकाल दी। प्रान्तीय सरकारों के द्वारा म्युनिसिपल बोर्डों और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों में कहाँ तक इसका पालन हुआ यह कहना सम्भव नहीं है।

उन्हीं की प्रेरणा का फल है कि खाद्य सदस्य ने गोशालाओं का बड़ा भारी सम्मेलन दिल्ली में कराया जिसका विस्तृत विवरण प्रकाशित हो चुका है। उसी के आधार पर प्रान्तीय सरकारें भी अपने अपने प्रान्तों की गोशालाओं के संघटन में तत्पर हो गईं।

अब भारतवर्ष स्वतन्त्र हो गया है और आशा की जाती है कि शीघ्रातिशीघ्र इस पवित्रभूमि से गो संहार दूर हो जायगा। संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) के भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री गोविन्द वल्लभ पन्त ने भी असेम्बली में अपने भाषण में कहा था कि आर्थिक दृष्टि से हमारे प्रान्त में गोवध नहीं होना चाहिए।

मालवीय जी महाराज ने भारतीय गोरक्षा प्रचारक मण्डल के उद्देश्यों में यह स्पष्टतया घोषित किया कि आर्थिक दृष्टि से गोवध इस देश में बन्द होना ही चाहिए।

गोमूत्र और गोबर की खाद से भूमि उपजाऊ बनती है। इस प्रकार करोड़ों रुपया की खाद प्रतिवर्ष किसानों को मिलती है जिससे खेत की उपज कई गुनी बढ़ जाती है। भारत कृषि प्रधान देश है जिसमें ७ लाख गाँव हैं और ९० प्रतिशत निवासी कृषक देहातों में रहते हैं जिनका जीवन खेती पर ही अवलम्बित है। अच्छी खाद न मिलने से खेतों की उर्वराशक्ति क्षीण होती जा रही है। हमारे देश में बैलों के द्वारा खेती होती है किन्तु गोवध के कारण बैल कम हो रहे हैं, उनकी संख्या वेग से घट रही है और उनका मूल्य बढ़ता जा रहा है।

मालवीय जी महाराज का कहना था कि खेती के साथ-साथ किसानों को गोपालन भी करना चाहिए। गौओं से दूध, घी और दही प्राप्त होता है जिससे किसान अपने परिवार को हृष्ट-पुष्ट बनाता

और बचा हुआ दूध घी बेचकर अपनी आय बढा सकता है। सस्ता और शुद्ध गोदुग्ध प्रत्येक व्यक्ति को अधिक से अधिक मात्रा में मिलना चाहिए। हमारे देश के मानसिक, बौद्धिक और शारीरिक ह्रास का मुख्य कारण गोदुग्ध का पर्याप्त मात्रा में न मिलना ही है। इङ्गलैंड, जर्मनी तथा अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों में प्रति व्यक्ति का औसत सेर सवा सेर दूध मिलता है किन्तु हमारे देश में प्रति व्यक्ति एक छटाँक का औसत नहीं है। इसका मुख्य कारण अंग्रेजों की गोसम्बन्धी घृणित नीति थी। पाश्चात्य देशों में मनुष्य की आयु का अनुपात पचास-साठ वर्ष है। किंतु हमारे देश में इकीस बाइस वर्ष आयु का अनुपात है। पाश्चात्य देशों में एक हजार एक वर्ष की अवस्था में पचास साठ बच्चे एक वर्ष की अवस्था में मरते हैं किन्तु हमारे देश में मृत्युसंख्या दो ढाई और तीन सौ तक पहुँच जाती है। हमारे देश में जो अनेक प्रकार रोग होते हैं उनका मुख्य कारण शुद्ध गोदुग्ध का अभाव ही है। अमेरिका आदि देशों में आठ आठ दस दस मील चौड़ी गोचर भूमि छोड़ी जाती है जहाँ हजारों गौएँ स्वच्छन्दता से चरती हैं और एक मन तक प्रति दिन दूध देती हैं। इसके विपरीत हमारे देश में अंग्रेजों की दुर्नीति और जमींदारों की अर्थ लोलुपता से गाँव की गोचर भूमि नष्टप्राय हो गई है। वह जमीन लेकर जमींदारों ने बेच दी है। अतः, गोवंश के ह्रास का मुख्य कारण गोचर भूमि का अभाव है। बनारस जैसे घने बसे हुए जिले में भी महाराज ने बहुत द्रव्य करके ३०० बीघा भूमि मोल ली थी जिसमें हजारों गौएँ प्रतिदिन चरती हैं और मालवीय जी महाराज को आशीर्वाद देती हैं। उन्होंने मिर्जापुर, लखीमपुर झाँसी आदि जिलों में मीलों लम्बी-चौड़ी विस्तृत गोचर भूमि छुड़वाने का प्रयत्न किया था और वहाँ के जमींदारों ने वचन दिया था कि वे इस कार्य में सहायता करेंगे लेकिन महाराज की मृत्यु के कारण यह कार्य आगे न बढ सका। मालवीय जी के जीवन का अंतिम भाषण व्यवनाश्रम में गत सम्वत् कार्तिक शुक्ल गोपाष्टमी के दिन हुआ था, उसमें उन्होंने देहाती जनता के सामने कहा था—

> दूध पियो कसरत करो नित्य जपो हरि नाम।
> हिम्मत से कारज करो, पूरेंगे सब काम॥

यह तो सत्य है कि प्रत्येक भारतवासी को अधिक से अधिक गोदुग्ध और घृत का सेवन करना चाहिए और ग्राम-ग्राम में विस्तृत गोचरभूमि भी छूटना चाहिए और ऐसा प्रयत्न होना चाहिए कि प्रत्येक किसान कम से कम एक गौ रख सके। किन्तु यह तब तक संभव नहीं है जब तक कि हमारी सरकार इस सम्बन्ध में कोई व्यवस्था न करे। आजकल जिस भयंकर महार्घता में जनता पीसी जा रही है उसे देखते हुए यह संभव नहीं जान पड़ रहा है। व्यवनाश्रम में जो मालवीय जी ने विशाल गोशाला बनवाई थी उसमें सैकड़ों गौओं का विधिवत् पालन पोषण होता था। आज मालवीय जी महाराज संसार में नहीं हैं इससे उनका गोरक्षा का काम अधूरा रह गया है। प्रत्येक भारतवासी और भारतीय सरकार का कर्तव्य है कि इस देश में गोवध न हो और प्रत्येक भारतीय को गोदुग्ध और गोघृत सरलता से उपलब्ध हो जिससे भारतवर्ष की खोई हुई सुख-समृद्धि और संपत्ति फिर से लौट आवे।

कहा जाता है कि हमारे देश में घी और दूध की नदियाँ बहती थीं। आज वही देश

निर्जीव, निर्बल और अनेक प्रकार के रोगों से पीड़ित हो रहा है। इसका पुनरुत्थान गोमाता के दूध के बिना नहीं हो सकता। किसी विद्वान् ने कहा है—

नो चेद् गवा यदि पयो पृथिवीतलेऽस्मिन।
संवर्द्धन न च भवेत् त्रिधिसततीनाम्॥
यो जायते निधिवशेन तु सोऽपि रूक्षो।
निर्वीर्यशक्तिरहित सुकृश कुरूप॥

[यदि इस भूतल पर गाय का दूध न हो तो प्रजा का उचित संवर्धन नहीं हो सकता। यदि संयोगवश बालक उत्पन्न भी हो गए तो वे निर्वीर्य, निःशक्त, दुर्बल और कुरूप होते हैं।]

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल

भारत में मुगलों के दुर्गों पर विदेशियों की पताका फहराने पर भी मुसलमानी छाप 'हिंदुस्थान' पर बनी रही। मुसलमानों की बात तो जाने दीजिए, हमारे ब्राह्मण और क्षत्रियों के बच्चों का विद्यारम्भ 'अलिफ, बे, पे, से होता रहा क्योंकि हमारी बोलचाल की भाषा को लोग 'भाखा' कहकर दुरदुराया करते थे और आज की 'नागरी' उस समय 'गँवारी समझी जाती थी, फारसी उसका गला दबाए बैठी थी। ब्रज का घाघरा पहने हुए जब वह कचहरी में घुसने लगी तो मुगलों की मुँह चढ़ी फारसी ने उसे वहाँ घुसने न दिया। शहरी लोग गँवारों का आदर ही क्या करने लगे। लाख सिर पटकने पर भी बेचारी नागरी की कुछ सुनवाई न हुई। वह उल्टे पैरों लौट आई। फारसी राजा की मुँह चढ़ी थी, किसके दो सिर हुए कि उसके विरुद्ध मुँह खोले।

पर नागरी का यह अपमान कुछ लोग सह न सके। राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद ने 'बनारसी अखबार' में बेचारी नागरी की ओर से बड़ी वकालत की। पर राजा साहब ने देखा कि वायु का प्रवाह ठीक नहीं है, वे पाल समेट कर तो नहीं बैठ रहे पर उन्होंने कुछ तो वायु का आश्रय लिया और कुछ पतवार का। देशी घाघरे के साथ साथ फारस की चोली अच्छी तो न लगी पर और कोई उपाय न था। उर्दू भाषा मुसलमानी संस्कार लिए हुए भी नागरी वस्त्र पहनकर आई। राजा साहब की हिन्दी ऐसी ही चलती रही।

न खालिस हिन्दी न खालिस उर्दू, जुबान गोया मिली-जुली हो।
अलग रहे दूध से न मिसरी, डली डली दूध में घुली हो॥

यह भी क्या कम था?

मालवीयजी के जन्म के साथ साथ आगरे से राजा लक्ष्मणसिंह का 'प्रजा हितैषी' भी उदय हुआ और पहले पहल उनके प्रसिद्ध 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का हिन्दी अनुवाद उसमें निकला। लोगों ने जी खोलकर इस 'शकुन्तला' का स्वागत किया। इन हिन्दी वस्त्रों में वह सचमुच बहुत भली भी लगती थी। इधर युक्तप्रान्त उत्तर प्रदेश में तो ये लोग हिंदी और नागरी के राज्याभिषेक की तैयारी कर रहे थे, उधर पंजाब में सन् १८६३ और १८८० ई० के बीच बाबू नवीनचन्द्र राय ने भी उसकी प्रतिष्ठा की पूरी तैयारी कर ली थी। स्वामी दयानन्दजी के आर्य्य-समाज ने और पण्डित श्रद्धाराम फुल्लौरी के धार्मिक आन्दोलनों ने आर्य्य भाषा हिन्दी को भी भरकर अपनाया और उसका पढ़ना सबके लिये आवश्यक कर दिया। श्रद्धाराम फुल्लौरी जी हिन्दी गद्य के बहुत अच्छे लेखक थे और सन् १८८१ ई० में अपनी मृत्यु के समय उन्होंने कहा भी था कि "भारत में भाषा के लेखक दो हैं—एक काशी में, दूसरा पञ्जाब में—परन्तु आज एक ही रह जायगा।" यह काशी के लेखक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के अतिरिक्त और कौन हो सकते थे।